श्रीकृष्ण-सन्देश

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

श्रीकृष्ण-जन्मस्थानपर निर्मित हो रहे भागवत-भवनका पार्श्व भाग

श्रीकृष्ण-सन्देश

[श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघका मासिक मुखपत्र]

★

प्रकाशक

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा

दूरभाष : ३३८

*

मूल्य

एक अङ्कका पचास पैसे

वार्षिक सदस्य शुल्क

सात रुपया

आजीवन शुल्क

एकसौ इक्यावन रुपया

वर्ष : ३ } दिसंबर १९६७ { अङ्क : ५

विषय-सूची

मुद्रक : बम्बई भूषण प्रेस, मथुरा

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान:

हिन्दू-जगतका पावन संस्थान

भगवान् श्रीकृष्णके जन्मस्थान पर उस विशाल मन्दिरकी आकृति देखकर महान् हर्ष होता है, जो भारतीय संस्कृतिका जीता जागता रूप-सा उस पावन भूमिपर निर्मित हो रहा है। इस पुरातन इतिहास-प्रसिद्ध भूमिपर भगवान् श्रीकृष्णके मन्दिरका जीर्णोद्धार होना मानो भारतीय संस्कृतिकी सबसे बड़ी रक्षा करना है। जगद्गुरु श्रीकृष्ण इस कार्यकी पूर्णतामें पूर्ण सहयोग प्रदान करेंगे, यह हमारा विश्वास है।

नारायणाश्रम स्वामी
अमरकंटक, म० प्र०

यह गौरव की बात है कि यह स्थान, जो महान् योगेश्वर श्रीकृष्णका जन्मस्थान है, फिर से अपने स्वत्वको सँभाल रहा है। प्रत्येक भारतीयको इसके दर्शनकर प्रसन्नता होती है। जिन लोगों ने यह कार्य अपने हाथमें लेकर कार्य आरम्भ किया है, उनकी प्रशंसा जितनी कीजाय कम है। प्रत्येक मानवको इसमें सहयोग देना चाहिए।

माधोसिंह
सार्वजनिक निर्माण मन्त्री, राजस्थान

आज इस स्थानपर आकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। जो काम यहाँ हो रहा है, उसके पूर्ण होने पर हमें इसकी प्राचीन गौरवावस्थाकी अनुभूति होगी।

शिवदत्त उपाध्याय
संसत्सदस्य (राज्यसभा)

आज मुझे सपरिवार श्रीकृष्ण-जन्मभूमि मन्दिर देखनेका सुअवसर मिला। वैसे मैं तो इस स्थानको पहले भी देख चुका हूँ। हमारे देशके महामानवोंमें भगवान् श्रीकृष्णका स्थान बहुत ऊँचा है। हमारे देश और समस्त संसारके लिये श्रीकृष्णकी महिमा आज भी उतनी ही वरदानदायी है, जितनी पहले थी। उनके जन्मस्थानका पुनरुद्धार कार्य सराहनीय है। इस कार्यमें संलग्न महानुभाव मानवमात्रके धन्यवादके पात्र हैं।

श्रीकृष्णदत्त पालीवाल
संसत्सदस्य (राज्यसभा)

भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्य जन्म भूमिके दर्शनकर आनन्दित हुआ। सर्वश्रीबिरला, डालमिया तथा अन्य दानवीर इस स्थानका पुर्ननिर्माण और विकासकर निश्चय ही सनातन धर्मकी महती सेवा कर रहे हैं। सनातन धर्म की जय।

स्वामी चिदानन्द
डिवाइन लाइफ सोसाइटी ऋषीकेश

यह परम स्वच्छ एवं पावन मन्दिर है, अतः इसका दर्शन आनन्दप्रद है।

श्रीमती सुचेता कृपलानी
भू. पू. मुख्यमन्त्री, उ. प्र.
सुंदरसिंह
राजमन्त्री, पंजाब

आज श्रीकृष्ण जन्म भूमि का दर्शन किया, बड़ी प्रसन्नता हुई। श्रीकृष्णभगवान् की कृपा से मैं यहाँपर उत्सवके समय संगीतके द्वारा सेवा करनेके लिए अवश्य आनेका प्रयत्न करूँगा।

पण्डित विनायकराव पटवर्धन
सुप्रसिद्ध सङ्गीताचार्य

आज मुझे मथुरामें श्रीकृष्ण-जन्मस्थानका दर्शनकर प्रसन्नता हुई। जिसने भी यह कार्य किया और कराया है, उनका मैं ही नहीं, समस्त हिन्दू जाति आभारी है और रहेगी। मैं इस महान् कार्यकेलिए अपनी ओर से शतशः बधाई देता हूँ।

रघुनन्दनप्रसाद कौशिक
उपसचिव लोकसभा देहली,

हम श्रीकृष्ण जन्मस्थानका दर्शनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। इस स्थानको वास्तव में भव्य रूप दिया गया है।

श्रीराम
वैयक्तिक सचिव—मुख्यमन्त्री, उ. प्र.

श्रीकृष्ण जन्मस्थानके दर्शनका सुअवसर देनेकेलिए ईश्वरको अनन्त धन्यवाद।

एडवर्ड केरिगन
नार्थ—हौलीवुड कैलिफोर्नियाँ यू. एस. ए..

श्रीकृष्ण जन्मस्थान बहुत सुरुचिमय एवं भव्य स्थान है। इसके दर्शनका अवसर पाकर मैं प्रसन्न हूँ।

डा. आई डोनट्स
रो—मैडिकल ऑफीसर, रूस

श्रीकृष्ण जन्मस्थानके दर्शनका अवसर पाकर प्रसन्न हूँ।

जॉन एच. कीन, काबुल

इस पुरातन और पवित्र स्थानका दर्शनकर प्रसन्न हुआ।

गोविन्दजी गोपाल जी
केनियाँ, ईस्ट अफ्रीका।

हम उस भव्य स्थानको देखकर आनन्दित हैं, जहाँ श्रीकृष्णका जन्म हुआ था। वास्तव में यह रमणीक स्थान है।

एफ. बोम्स
बुडापेस्ट, होलैण्ड।

श्रीकृष्ण जन्मभूमिका जीर्णोद्धार शीघ्र से शीघ्र होनाआवश्यकीय है। क्योंकि श्रीकृष्ण ने भारतके ही नहीं, प्रत्युत् विश्वके दर्शनपर प्रभाव डाला है।

हरिगोविंदसिंह
अर्थ वानस्पतिक (कपास) उ. प्र. शासन, बुलन्दशहर

श्रीकृष्णजन्मभूमिको जब देखा तबियत प्रसन्न हो उठी। बहुत ही साफ सुथरा अत्यन्त सुन्दर स्थान हैं। ऐसा प्रतीत होता है, हर तरफ श्रीकृष्ण भगवान् साक्षात् खड़े दर्शन दे रहे हैं।

श्रीमती गोयल
एक्जीक्यूटिव इन्जीनियर पी. डब्ल्यू. डी. मेरठ

श्रीकृष्ण-सन्देश

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।।

वर्ष ३] मथुरा, दिसंबर १९६७ [अङ्क ५

अमृत-विन्दु

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः ।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ।।

—पिताजी ! आप लोग, मैं, भैया बलरामजी, सारे द्वारकावासी, सम्पूर्ण चराचर जगत्—सब-के-सब आपने जैसा कहा, वैसे ही हैं, सबको ब्रह्मरूप ही समझना चहिए ।

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥

—पिताजी ! आत्मा तो एकही है । परन्तु वह अपनेमें ही गुणोंकी सृष्टि कर लेता है और गुणोंके द्वारा बनाये हुए पंचभूतोंमें एक होनेपर भी अनेक, स्वयं प्रकाश होने पर भी दृश्य, अपना स्वरूप होनेपर भी अपनेसे भिन्न, नित्य होनेपर भी अनित्य और निर्गुण होनेपर भी सगुणके रूपमें प्रतीत होता है ।

खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम् ।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि ॥

—जैसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये पंच महाभूत अपने कार्य घट, कुण्डल आदिमें प्रकट-अप्रकट, बड़े-छोटे, अधिक-थोड़े, एक और अनेक-से प्रतीत होते हैं—परन्तु वास्तवमें सत्ता। रूपसे वे एक ही रहते हैं, वैसे ही आत्मामें भी उपाधियोंके भेदसे ही नानात्व की प्रतीति होती है । इसलिए जो मैं हूं, वही सब हैं—इस दृष्टिसे आपका कहना ठीक ही है ।

[श्रीमद्भागवत १०।८५।२३।२५]

"गीता ज्ञान-मणियों की अक्षय खान है। यदि युग-युगान्तर तक इस ज्ञानखान से ज्ञान-मणियाँ निकलती रहें तो भी भावी संसार इसमें सवदा नये-नये मणि-माणिक्य ही प्राप्त करेगा।"

गीतोक्त-ज्ञानामृत

श्रीनागेश्वरसिंह 'शशीन्द्र' विद्यालंकार

ज्ञान प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा संसारमें सभी व्यक्तियोंमें अनादिकालसे ही चली आ रही है और जब तक यह विश्व चलता रहेगा, तव तक वह उसी तरह बनी रहेगी। परन्तु ज्ञान क्या है, उसका स्वरूप कैसा है ? इसके सम्बन्धमें विभिन्न विचारकोंका मतैक्य कठिनाईसे होगा। भारतवर्ष सदासे ज्ञान-विज्ञानकी भूमि रही है। तभी तो मनुने भी कहा है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥

भारतीय दर्शन-ग्रन्थोंमें ज्ञानकी बड़ी व्यापक गम्भीर विवेचना की गयी है। विभिन्न मनीषियों, आचार्योंने ज्ञानके महान् स्वरूप, परिभाषा तथा अन्य आवश्यक तत्वोंका सविस्तार उल्लेख किया है। गीताका ज्ञान तत्व वस्तुतः भारतीय सनातन धर्मपर ही आधारित है। गीताकी महिमाके सम्बन्धमें व्यासदेवने कहा है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थोवत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

सप्तर्षि धाराचार्य स्वामी शारदानन्द ब्रह्मचारीने लिखा है—"गीतामें जिस ज्ञानकी व्याख्या संक्षेपमें की गयी है, वही ज्ञान चरम एवं गुह्यतम है।" महर्षि अरविन्द गीताशास्त्रके अधिकारी विद्वान् थे। उनकाभी यही विचार था। उन्होंने अपनी "गीतार भूमिका" में लिखा है—"गीताकी भावभूमिपर जो ज्ञान एवं कर्मके बीज अंकुरित किये गए हैं, वही कर्म एवं ज्ञान मार्ग जगत्‌का सनातन मार्ग है।" लोकमान्य तिलकने भी अपने 'गीतारहस्य' नामक ग्रन्थमें कहा है—"गीता अगणित रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला महासागर है।" पूज्य बापूने तो उसका दूसरा नाम 'अनासक्तियोग' ही रखा।

सचमुच गीता ज्ञान-मणियोंकी अक्षय खान है। यदि युग-युगान्तर तक इस ज्ञान-खानसे ज्ञान मणियाँ निकलती रहें तो भी भावी ससार इसमें सर्वदा नये-नये मणि-माणिक्यही प्राप्त करेगा। सन्त ज्ञानेश्वरके मतानुसार गीता सब धर्मोंकी मातृभूमि है। पाश्चात्य जगतके प्रसिद्ध गीता मर्मज्ञ 'हम्बोल्ड' ने लिखा है—

Gita is a most beautiful, perhaps the only true philosophical song existing in this world.

ज्ञान एवं भक्ति इन दोनों तत्वोंकी विशद् व्याख्या गीतामें की गई है। जगद्गुरु शंकराचार्य एवं भगवान् रामानुजाचार्यके शब्दोंमें गीता ज्ञान की जन्मभूमि है। संत तुकारामने तो गीताको सभी शास्त्रोंका केन्द्र ही कहा है। यहाँ केवल गीतोक्त ज्ञानकी चर्चा की जायगी।

श्रीकृष्ण गीताके वक्ता हैं। शास्त्रका कथन है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। गीतामें भी उन्होंने अपनेको भगवान् कहा है। श्रीकृष्ण जगत्-प्रभु हैं, फिर भी अपनी महान् महिमा को प्रच्छन्न रख उन्होंने मनुष्यके साथ पिता-पुत्र, भाई-चाचा, मित्र एवं शत्रुका नाता स्थापित कर लीलाकी है। उनके जीवनमें भारतीय सनातन ज्ञानका श्रेष्ठ रहस्य और भक्ति मार्गकी उत्तम शिक्षा निहित है। गीतामें ज्ञानयोगपर श्रीकृष्णका मतही विचारणीय है। अर्जुन द्वारा पूछे गए प्रश्न तो प्रश्न ही हैं। गीताके अनुसार भगवान्‌के निर्गुण, निराकार तत्वका जो प्रभाव, माहात्म्य और रहस्य सहित यथार्थ ज्ञान है, वही सच्चा ज्ञान है। गीतोक्त ज्ञानका अधिकारी भगवान्‌का वह भक्त है, जिसनें सारे भावोंको प्रभुमें अर्पण कर दिया है और सर्वत्र प्रभुकी ही झाँकी पाता है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते॥

इस ज्ञान प्राप्तिकी पात्रताके विषयमें गीता कहती है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥

श्रद्धावान्, तत्पर और संयतेन्द्रिय पुरुषही उस प्रकाश रूप ज्ञानको प्राप्त करता है और उसके पानेके बाद ही वह श्रद्धावान् पुरुष शीघ्रही मोक्षको प्राप्त करते हुए परम शान्ति एवं उपरमको प्राप्त होता है, उस प्रकाश रूप ज्ञानकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए गीता निर्देश करती है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥

इस प्रकार भगवान्‌के सगुण, निर्गुण और दिव्य साकार तत्वके लीला-रहस्य, गुण महत्व और प्रभाव सहित यथार्थ ज्ञानका नाम विज्ञान है। वे समस्त ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्तिमें साधन रूप हैं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

ज्ञान-विज्ञानके द्वाराही ब्रह्मके समग्र स्वरूपकी प्राप्ति होती है। यह विश्व ब्रह्माण्ड उस समग्र रूपका एक अल्प अंश मात्र है। जब मनुष्यको ब्रह्मका ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब शेष कुछ नहीं जानना रह जाता है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञान मिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

श्वेताश्वतर उपनिषद्में ईश्वरीय शक्तिसे अनुप्राणित महर्षिने विश्वके सामने खड़े होकर इस अमर सन्देशकी उद्घोषणाकी—

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः
अपिधामानि दिव्यानि तस्थुः ।
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति-
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

हे अमृत पुत्र ! अनादि पुरुषको पहचाननाही अज्ञान एवं मायाके परे जाना है । केवल उस पुरुषको जानकरही लोग ज्ञानी बन सकते हैं । जन्म-मरणके चक्करसे छूट सकते हैं ।

गीताके अनुसार जो ज्ञानामृतका पान कर लेते हैं उनके लिए मृत्युलोककी क्या विसात, ब्रह्मलोक भी सुखदायक नहीं होता—

यज्ञ शिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥

मुण्डकोपनिषद्में तो ब्रह्मको ज्ञानका स्रोतही माना गया है और वहाँ कहा गया है कि ब्रह्मका ज्ञान होजानेसे मानव सर्वज्ञानी बन जाता है—

यः सर्वज्ञः सर्वं विघिस्तस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्म पुरेह्येष व्योन्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥

गीतामें द्रव्य यज्ञकी अपेक्षा ज्ञान-यज्ञको अधिक श्रेष्ठ बताया गया है । इससे संपूर्ण कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

ज्ञानके बिना जन्म-मरणके कर्म बन्धनसे मुक्ति पाना सम्भव नहीं है । ज्ञानके द्वाराही मानव समस्त भूलोंको निःशेष भावसे सर्व प्रथम अपनेमें और तदनन्तर ब्रह्ममें देखता है । भगवान्ने कहा है—

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

ईशावास्योपनिषद्में कहा गया है कि जो ज्ञानी है, उस एकान्त दर्शी पुरुषको कौनसा शोक और कौनसा मोह हो सकता है ? ज्ञान तो एक प्रज्वलित अग्नि है जो सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर मानवकी नैयाको पारकर देता है । गीता उसके लिए कहती है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणिभस्म सात्कुरुते तथा ॥

महर्षि अरविन्दने 'गीतार भूमिका'में लिखा है, 'सच तो यह है कि संसारमें ज्ञानके सदृश पवित्र करनेवाला, तत्त्व निःसन्देह कुछ भी नहीं है।' उस ज्ञानको कितनेही कालसे कर्मयोगके द्वारा शुद्ध अन्तःकरणसे मानव अपने आपही अपनी आत्मामें दर्शन कर लेता है—

छांदोग्य उपनिषद्में भी कहा गया है—

> सयएषोऽणिमा एतदात्म्य मिदं सर्वं—
> तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतोइति ॥

जप-तप, योग एवं दान आदि सभी ज्ञानके साधन हैं। ये ज्ञान तक ले जानेमें पूर्ण सहायक होते हैं—

> नहिज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
> तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

सम्पूर्ण रूपमें भगवान्के शरणागत होनाही गीतोक्त ज्ञानकी शिक्षा है। इसीको आत्म समर्पण कहते हैं, जिससे व्यक्ति भगवान्को भगवान्, आचार्य, पिता, मित्र एवं पथ-प्रदर्शक मानकर अन्य सब धर्मोंको तिलांजलि देनेके लिए तैयार हो जाता है। पाप, पुण्य, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य, धर्म-अधर्म, सत्य-असत्य, एवं मंगल अमंगलका बिना योग क्षेम किए अपने ज्ञान और कर्मका समस्त भार अहंकार शून्य होकर जो अपने प्रभुपर सौंप देता है, वही गीतोक्त ज्ञान का अधिकारी है—

> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
> तत्प्रसादात्परां शान्तिस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

कठोपनिषद्में उस पुरुषके स्वरूपके सम्बन्धमें कहा गया है—

> भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
> भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥

वेदान्तका भी कथन है कि उस प्रभुको जान लेनाही ज्ञान है—"कस्मिन् नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति।"

गीताके प्रति

"मेरा विश्वास है कि मनुष्य जातिके इतिहासमें सबसे उत्कृष्ट ज्ञान और अलौकिक शक्ति-सम्पन्न पुरुष श्रीकृष्णकी कही हुई भगवद्गीताके समान छोटे वपुमें इतना विपुल ज्ञान-पूर्ण कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है।" —महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय

"यदि कोई मुझसे कहे कि संसारकी किसी सर्वश्रेष्ठ पुस्तकको चुनलो तो मैं गीताको ही हाथ लगाऊंगा। मुझे भगवद्गीतामें एक ऐसी सांत्वना मिलती है, जो मुझे 'सर्मन आन दिमाउण्ट' (बाईबिलका एक प्रसंग) तकमें नहीं मिलती। जब निराशा मेरे सामने आ खड़ी होती है और जब बिल्कुल एकाकी प्रकाशकी कोई किरण मुझको नहीं दिखाई पड़ती, तब मैं गीताकी शरण लेता हूं।" —राष्ट्र पिता महात्मागांधी

"मेरे जीवनमें गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोंसे वर्णन नहीं कर सकता हूं। गीताका मुझपर अत्यन्त उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हूं और रोज मुझे उससे सहायता मिलती है। गीताका और मेरा सम्बन्ध तर्कसे परे है।" —आचार्य बिनोबाजी

"आजके जगत्का लक्ष्य है—भोग प्राप्ति और उसके साधन हैं—किसी भी प्रकारसे भोग प्राप्त हों, भले ही उसमें जीव मात्रका अकल्याण होता हो। इसी से आजका मानव 'आसुरी सम्पदामय' हो रहा है और आसुरी बुद्धि स्वाभाविक ही आसुरी विचारों तथा क्रियाओंको ही महत्व देगी।"

देशमें आसुरी सम्पदाका विस्तार और हमारा कर्त्तव्य

श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

इस समय सारे विश्वमें ही बड़े जोरों से परिवर्तन हो रहा है और वह हो रहा है पतनोन्मुखी। इसका परिणाम होगा—दुःख, यातना, क्लेश, युद्ध और विनाश। इसका स्थूल कारण है—भोगपरायणता। भारतीय ऋषियोंके सिद्धान्त से जीवनका लक्ष्य है—भगवत्प्राप्ति या मोक्ष और उसका साधन है त्यागपूर्ण विशुद्ध निष्कामयुक्त कर्मयुक्त सबहितकारी जीवन—जीवन का प्रत्येक कार्य ही भगवत्प्रीत्यर्थ हो। इसीसे "दैवी सम्पदा" भारतीय जीवन का स्वरूप है। आजके जगत्का लक्ष्य है—भोग-प्राप्ति और उसके साधन हैं—किसी भी प्रकार से भोग प्राप्त हों, भले ही उसमें जीवमात्रका अकल्याण होता हो। इसीसे आजका मानव 'आसुरी सम्पदामय' हो रहा है और आसुरी बुद्धि स्वाभाविक ही आसुरी विचारों तथा क्रियाओंको ही महत्त्व देगी। यही कारण है आज जगत् घोर पतनकारी विस्फोटके मुंहपर स्थित है और पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा, भोगमूलक साहित्य तथा पाश्चात्य विचारधाराके प्रभाव से भारत भी अपने चिरन्तन सिद्धान्त तथा लक्ष्यसे च्युत होकर हिंसामय कम्यूनिज्म-जैसे निश्चित दुःखपरिणामी आसुरी विचार-प्रवाहमें बहने लगा है और द्रुतगतिसे बहा जा रहा है।

देशकी इस समय जो स्थिति है, उससे यह प्रत्यक्ष प्रकट है। भारतके कई प्रदेशोंमें खास करके पश्चिम बंगालमें जो कुछ हो रहा है, वह एक भयानक भविष्यका चित्र सामने लाता है। ऐसी अराजकता, उच्छृङ्खलता, परिणाम-विचार-शून्यता, अनुशासनहीनता, अशान्ति और हिंसा-प्रतिहिंसा प्रवृत्ति इधर कभी नहीं हुई थी। केवल राजनीतिक क्षेत्रमें ही नहीं—शिक्षा-क्षेत्र (छात्र-शिक्षक), औद्योगिक क्षेत्र, क्रय-विक्रयके बाजार, महिलामण्डल, शासक-समुदाय सभी इस प्रवृत्तिसे आक्रान्त हैं। यहाँ तक कि नगर-निगमों, विधान सभाओं और संसदोंमें भी ऐसे अवाञ्छनीय कार्य होते हैं, जो सर्वदा अनिष्टकारक तो हैं ही—भारत की, भारतीय त्यागकी तथा भारतके त्यागी देशभक्त नेताओंकी प्रतिष्ठाका नाश करनेवाले हैं!

आज पश्चिम बंगाल—उसके सबसे बड़े नगर कलकत्ते में जो कुछ हो रहा है, सिलगुड़ी में जो कुछ लूट-मार तथा आग लगानेका घृणित कार्य हुआ है, वह बड़ा ही भयानक है। हमारी राष्ट्रीयताके विचार यहाँ तक संकुचित तथा सीमित हो गये हैं कि आज एक प्रदेशमें भाषा तथा सीमाभेदके कारण अन्य प्रदेशीयका जीवन संत्रस्त या भयविह्वल हो गया है। सभी सशंकित हैं, कब क्या हो जाय, पता नहीं। सारा सामाजिक स्तर ही अस्त-व्यस्त हो रहा है। लूट-मार आगजनी होती है, कोई बचानेवाला, सुननेवाला नहीं, महिलाओंका अपमान होता है—कोई कुछ बोलता नहीं, रेलगाड़ियाँ बसें रोकी जाती हैं, बसों तथा मोटरोंमें आग लगायी जाती है, दुकानें जलायी जाती हैं, गैरकानूनी भीड़ चाहे जिसको, चाहे जहाँ चाहे जब घेर लेती है, कोई पूछनेवाला तथा बचानेवाला नहीं, रेल-यात्रियों पर पत्थर फेंके जाते हैं, विद्यालयोंपर आक्रमण होते हैं, शिक्षक तथा छात्र मारे जाते हैं। कोई रोकने-टोकनेवाला नहीं; परिणाम यह हो रहा है कि औद्योगिक संस्थान, कल-कारखाने बन्द होते जारहे हैं। आर्थिक कठिनाइयाँ बढ़ रही हैं। जीवन-यापनकी वस्तुओंका मिलना कठिन हुआ जा रहा है। शिक्षा-क्षेत्रोंमें भय व्याप्त हो रहा है और दीर्घकालसे बसे हुए शान्तिप्रिय लोग प्राणरक्षार्थ दूसरे स्थानोंपर जाने की सोच रहे हैं। असमके लोगोंकी अन्य प्रान्तीयोंके प्रति दुर्भावना, महाराष्ट्रकी शिवसेना आदि भी यही भय उभाड़ रही है। गरीब जनताके कल्याणके नामपर गरीबोंका जीवन कष्ट-मय बनाया जा रहा है और राष्ट्र, देश तथा समाजको भूलकर व्यक्तिगत स्वार्थ-साधनको ही—भले ही उसमें दूसरोंका सर्वस्व नाश होता हो—कर्त्तव्य माना जा रहा है।

इस उच्छृङ्खलतामय यथेच्छाचारको निर्वाध बढ़ने देना कदापि उचित नहीं है। अतएव भगवान्‌की शरण होकर उनकी कृपापर विश्वास रखते हुए अपने प्रत्येक प्राप्त साधन तथा बुद्धि के द्वारा तुरन्त ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे इस विनाशके प्रवाहमें कुछ बाधा उपस्थित हो, उच्छृङ्खल पथपर चलनेवाले लोगोंको उपदेश प्राप्त हो और वे अपनी भूल समझकर उनके लिये पश्चात्ताप करें और सही रास्ते अपनावें।

जो व्यक्ति या संस्थाएँ यह काम आंशिक रूपसे कर रहे हैं या करना चाहते हैं, उनको सक्रिय सहयोग देकर दृढ़ बनावें जिससे उनके कार्यक्षेत्र तथा कार्यसमूह विशालताको प्राप्त होकर शीघ्र ही सत्‌फल उत्पन्न कर सकें। सबको अपने साधारण मतभेद तथा व्यक्ति या दलकी विघटनकारी भावनाओंको छोड़कर एक सूत्रमें बँधकर कार्य करना चाहिये। भारतीय ऋषि-मुनिसेवित धार्मिक भावोंका, भारतीय त्यागमयी विचारधाराओंका तथा बुद्धिमानीके साथ सद्‌भावोंका प्रचार, सत्-साहित्यका प्रकाशन, रक्षा-दलोंका संगठन, प्रहरी टुकड़ियोंकी नियुक्ति, आर्थिक सहयोग, जनसाधारणमें साहस, चरित्रबल, उत्साह तथा सेवावृत्तिका उद्बोधन और समयपर आवश्यकतानुसार त्याग-बलिदानकी तैयारी—इन सभीके लिये क्रियात्मक विचार करना आवश्यक है। 'शुभस्य शीघ्रम्।'

ज्ञान गंगा

चारों वेद, छः शास्त्र और अठारह पुराण हरिके ही गीत गाते हैं। हरिके नामका उच्चारण करनेसे अनन्त पापसमूह पलभरमें भस्म हो जाते हैं।

भक्तिके बिना तीर्थ, व्रत, नियम और सिद्धि लोगोंके लिए व्यर्थकी उपाधि है।

राम-कृष्णका नाम अनन्त राशिमय है, पाप उसके सामने भाग जाते हैं। संत ज्ञानेश्वर

"ईश्वराराधना विधिके दो प्रकार हैं। एक तो सिद्धान्त, जिसमें केवल ध्यान तथा मनन द्वारा ही परमसिद्धिकी प्राप्ति होती है—'अहं ब्रह्मास्मि' उसका महावाक्य है और दूसरा कर्म योग, जिसमें निष्काम कर्मके अभ्यास द्वारा सिद्धि मिलती है।"

आराधनाके पंथमें गीताका योग

श्री सीकर

भगवान्की दयासे जब सब ओरसे सब बातोंकी छुट्टी मिली हुई हो तो अपनी बुद्धिके अनुसार प्रश्नोंके उत्तर लिखनेमें बड़ा अच्छा लगता है। इसलिये बहुत प्रश्न करता हूँ, इस विचारको दूर करके जब जो मनमें प्रश्न तथा संशय उठे, निःसंकोच लिखते रहनेसे प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता—दोनोंको लाभ होनेकी आशा रहती है। उत्तरके प्रयत्नमें लगनेसे बिखरे हुये विचारोंका एक संगठित रूप बन जाता है और जिज्ञासुको उससे मिला, तो कुछ प्रकाश मिल जाता है।

जीवनमें तन मन धनकी सँभाल बनी रहनेसे मनुष्यको सुख चैन और शान्तिका अनुभव होता है। पूजा-विधिका पहला भाग शरीरको स्वस्थ रखनेकी कला है, इसके पश्चात् धन की व्यवस्था अनुकूल होजानेपर ही मनकी ओर अधिक ध्यान जा सकता है। परमात्मामें मनकी लौ लग जाने पर तो तन और धन दोनों हीके मूल्यसे दृष्टि फिर जाती है।

भगवान्ने कहा है कि परम दिव्य पुरुष-परमेश्वरकी प्राप्ति उस मनुष्यको होती है, जो एकाग्र चित्तसे उसको स्मरण करनेके अभ्यासमें लगा रहता है। अनन्य भावसे निरन्तर स्मरण करनेवाले नित्य मुक्त योगीकेलिये परमेश्वर सुलभ है।

दिव्य पुरुषके स्वरूपका चित्रण गीताके श्लोकोंमें इस प्रकार किया गया है—"कवि (सर्वज्ञ), पुराण (सनातन), अनुशासित (सबपर शासन करनेवाला स्वामी), अणुसे भी छोटा, सर्वस्व, धातार (सारे जगत्का आधार), अचिन्त्यरूप, सूर्य प्रकाश सदृश, तेजोमय वर्णवाला, तमसे परे अर्थात् अज्ञेय।" आगेके श्लोकोंमें, दिव्य पुरुषके स्वरूपकी विस्तृत व्याख्या भी की गई है। सृष्टि और प्रकृतिके साथ, उसके चिर सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला गया है।

गीतामें श्री भगवान्ने कहा है ईश्वराराधना विधिके दो प्रकार हैं—एक तो सिद्धान्त, जिसमें केवल ध्यान तथा मनन द्वाराही परम सिद्धिकी प्राप्ति होती है—'अहं ब्रह्मास्मि' उसका महा वाक्य है और दूसरा कर्मयोग, जिसमें निष्काम कर्मके अभ्यास द्वारा सिद्धि मिलती है।

गीतामें यह प्रकट कर कि आसक्तिके त्यागसे पुरुष परमपदको प्राप्त कर लेता है, निष्काम कर्म करनेके अभ्यासका उपदेश दिया गया है। इस अव्यय पदको प्राप्तकरने केलिये साधककी साधना उस उन्नतिके शिखरपर पहुँची हुई होनी चाहिये, जिसका वर्णन गीताके श्लोकोंमें इस प्रकार है—मान मोहसे रहित, आसक्ति दोषका विजयी, आत्माके स्वरूपका निरन्तर ध्यानकरनेवाला, कामनासे पूर्णतया निवृत्ति प्राप्त, सुख दुःख कहलानेवाले द्वन्दोंसे भली प्रकार मुक्त मनुष्य जब अतिशय कठिन साधना-द्वारा इस स्थितिमें पहुँच जाता है, तब वह उस अव्यय पदकी प्राप्तिके योग्य होता है।

यह मार्ग बड़ा दुस्तर है। बड़े प्रबल पूर्व संस्कारवाले, भगवान्के पूर्ण दया और कृपा-पात्र ही इसमें सफलता प्राप्त करते हैं, परन्तु निष्काम कर्म अभ्यासकी स्वतंत्रता और उसके अधिकारसे कोई मानव-देहधारी वंचित नहीं। गीतामें इस परमोपकारी नियमकी घोषणा है कि प्राणीको केवल कर्म करनेका अधिकार है, उसके फलपर वह अधिकार न माने। इसको भलीभाँति हृदयंगम करनेका उपदेश देकर पश्चात् अपनी आराधनाका एक सरल उपाय आगे भगवान् गीतामें बताते हैं कि जिस परमात्मासे सब भूतोंकी उत्पत्ति और पालन-पोषण होता है और जिससे सारा दृश्य प्रपंच ओतप्रोत है, उसकी पूजाके हेतु अपने नियत कर्मोंको निष्काम-भाव-पूर्वक करते रहना अर्थात् जिसका पूर्व संस्कारानुसार जो स्वधर्म नियत है, उसको ही कुशलतापूर्वक निष्काम भावसे सदा करते हुये भगवान्के सृष्टि-संचालनकार्यमें अपना योग भारी यंत्रमें एक छोटेसे कणके समान देते रहना। पूर्व संस्काराश्रित उत्पन्न स्वभावसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके गुणोंकी व्याख्या भी भगवान्ने की है। उसके प्रकाशमें मनुष्य निष्का-मना सहित अपने स्वधर्मका निर्णय करे और तब तक अपनी स्वाभाविक प्रकृतिमें साधन-द्वारा उन्नति करे, जब तक अपनेको अपनी सामयिक स्थितिसे ऊपर न उठा ले। अपने स्वधर्मको किसी भी कामनावश न त्यागे।

इसके लिये धृति अर्थात् बलवती इच्छा-शक्ति चाहिये। यज्ञदान, तपादि धार्मिक जीवन के मुख्य अंग हैं। ये मनुष्यको पावन करते हैं। गीतामें यज्ञोंके प्रकारको बतलाया गया है और सात्विक यज्ञ, तप और दानकी व्याख्या भी क्रमशः की गई है। अभ्यासमें रुचि बढ़ानेके लिए इनके वास्तविक स्वरूप और मूल्यको पहचानना आवश्यक है। बिना इसको समझे हुये करना तो व्यर्थ ही सा है, जिसमें समय, परिश्रम और श्रद्धाके क्षयके अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं है।

यज्ञोंमें ज्ञान-यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। ज्ञान-यज्ञ-द्वारा मनकी उस दशाको ग्रहण करनेका प्रयत्न होता है, जिसमें शारीरिक एवं मानसिक साधना-द्वारा निर्णयात्मक बुद्धि शनैः शनैः बलवती बने और फलतः आत्म संयममें उन्नति हो।

ईश-प्रार्थना मुख्य है। गायत्री मन्त्रका जप इसके लिये विशेष उपाय है। हिन्दीमें उसका अनुवाद इस प्रकार है—

"जो प्राणोंका भी प्राण, सब दुःखोंसे छुड़ानेवाला, स्वयं सुख स्वरूप, अपने उपासकोंको सब सुखोंकी प्राप्तिकरानेवाला, सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्तिकर्त्ता, सूर्यादि प्रकाशकोंके भी प्रकाशक, समग्र ऐश्वर्यके दाता, कामना करने योग्य, सर्वत्र विजयकरानेवाले, अति श्रेष्ठ, ग्रहण व ध्यान करने योग्य, सब क्लेशोंको भस्म करनेवाले और पवित्र शुद्ध स्वरूप है, उसको हम लोग धारण करें। परमात्मा हमारी बुद्धिको अच्छे गुण, कर्म और स्वभावकी ओर प्रेरित करें।"

तन मनसे पूरा प्रयत्न करते रहनेपर ही सफलताकी आशाकी जा सकती है। केवल शब्दोच्चारणका कोई विशेष मूल्य नहीं, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थामें ऐसेही अभ्यास किया जाता है। पानीमें घुसकर हाथ-पैर मारनेसे ही उसमें निकलनेका मार्ग मिलता है। किनारे पर खड़े रहनेसे क्या तैरना कभी आ सकता है? एक और प्रार्थनाका दृष्टान्त इस प्रकार है—

"हे सकल जगत्के उत्पत्तिकर्त्ता, समग्र ऐश्वर्य-युक्त, सब सुखोंके दाता परमेश्वर आप हमारे सब दुर्गुणों, दुर्व्यसनों, और दुःखोंको दूर कर दीजिये और जो कल्याणकारक गुण, कर्म, स्वभाव हैं, वे हमको सब प्रदान कीजिये।"

निरी अपंग वृत्तिसे की हुई प्रार्थनायें कामकी नहीं। भगवान् उनके सहायक होते हैं, जो अपनी सहायता आप करते हैं। स्वावलम्बन द्वारा यथाशक्ति प्रयत्नके पश्चात् थकने पर जगत् पितासे सहायताकी प्रार्थना करनेसे उनका पैतृक हृदय द्रवित होता है और तभी वे हाथ पकड़कर उठाते हैं। साधकका निस्तार उसके पूर्ण मनोयोग तथा ईश्वर-कृपा द्वारा होता है।

गीतामें भगवान्ने बताया है कि जीवात्माको अधोगतिकी ओर खींचनेवाला नरकका तिहेरा द्वार काम, क्रोध और लोभ है—इससे पीछा छुटालेनेवाला मनुष्य अपनी आत्माके श्रेयके निमित्त संसारमें आचरण करता है, जिससे वह परमगतिको प्राप्त होता है। कामनाके अपूर्ण रहजानेपर क्रोध उत्पन्न होता है और लोभकी जड़ तो कामनामें रहती ही है। अतः कामना ही को, आत्माके शरीर रूपी बन्धनमें फँस जाने तथा उसीमें चक्कर काटते रहनेका कारण बताकर, निष्काम कर्मयोगके अभ्यासका उपदेश भगवान्ने गीतामें दिया है।

कर्म-फल-त्यागके अभ्यासकी अ आ इ ई प्रारम्भ करनेपर स्वार्थभावका धीरे-धीरे क्षय होने लगता है और ज्यों-ज्यों इसमें गति आती है, मनके राग द्वेषादि विकारोंका नाश होकर हृदयमें निर्मलताकी वृद्धि स्वयंभावी हो जाती है। शुद्ध हृदयमें घट-घटयामीके प्रकाशका तेज बढ़ता है, जिससे आचरणमें समत्व और सेवा भाव भर जाते हैं।

गीतामें भगवान्का सर्वसार मूल उपदेश यह है कि परमेश्वर-प्राप्तिसे बढ़कर वस्तु संसारमें किसीको न मान, अपने प्रत्येक दैनिक कर्मको विकार-रहित होकर ऐसी शुद्धतापूर्वक करो कि वह परमेश्वरके अर्पण योग्य बन सके। परमेश्वरमें मन लगाओ, कर्म फल और कर्तव्य अभिमानका त्याग करो—इस प्रकार सब भूतोंसे वैर रहित होकर तू परमेश्वरसे ही जा मिलेगा।

संक्षेप में ईश्वराधनाकी विधिका यह क्रम है—सत्संग तथा स्वाध्याय-द्वारा प्राप्त शास्त्रोक्त उपदेशोंमें, जो स्वके अनुभवोंसे और अपने समयके महान् पुरुषोंके त्यागमय आचरण से उत्पन्न एवं उनके अपार वीर्यवान् तथा शान्तिमय जीवनके प्रदर्शनसे पोषित हुये हों, अटल श्रद्धा-पूर्वक स्वधर्मनुसार नियत कर्मोंको यज्ञार्थ, स्वार्थको त्याग कर, लोकहितके लिये करनेमें अपनी शक्तिभर प्रयत्नशील बने रहना। इस मार्गमें बढ़नेके लिये भगवान्का निरन्तर स्मरण करना चाहिए और उनसे अन्तःकरणसे निकली हुई प्रार्थना करनी चाहिए कि वे निष्काम कर्म-योगके लिये प्रतिदिन शक्ति प्रदान करते रहें।

भगवान्के आश्वासनानुसार साधकको इस साधना-द्वारा शान्ति, तुष्टि, पुष्टिका अनुभव होते रहना स्वयम्भावी है। ज्यों-ज्यों उसको सफलता मिलेगी, भगवान्के स्मरणमें उसकी

वृत्ति स्वयमेव अधिक बढ़ेगी। भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग बढ़ेगा, और निष्काम कर्मयोग तथा परमेश्वरकी भक्तिका चक्र चलने लगेगा। भक्ति हो जानेपर आचरणमें पवित्रता स्वयंही आ जाती है।

भगवान् अर्जुनसे कहते हैं "मामनुस्मर युद्धय च"। मेरा प्रतिक्षण स्मरण करताहुआ अपने स्वधर्मानुसार नियत कर्मको निष्काम भावसे समष्टिके हितमें लगाहुआ कुशलतापूर्वक करता चल। मुमुक्षका यही धर्म है। आगे और भी भगवान्‌ने कहा कि अपनी आत्माके निस्तार-हेतु सब कर्मोंका सन्यास मुझमें करके अर्थात् फल ईश्वरार्पण करके कामना और संग त्याग कर अपना स्वाभाविक धर्म पालन करनेमें लग जा। प्राणीका कर्त्तव्य धर्मयुक्त युद्ध करना है।

गीताके अध्ययनमें संस्कृत भाषाके अधिक ज्ञानकी आवश्यकता होती है, यह निरा भ्रम है। गीताकी भाषा बड़ी सरल है, यद्यपि विचार अत्यन्त सूक्ष्म और गहरे हैं। पदच्छेद और अन्वय सहित हिन्दीमें बहुतसी टीकायें छप गई हैं। अतः गीताका अध्ययन तुलसीदासजीकी रामायणके समान ही सरल है। प्रारम्भ करके मनुष्य स्वयं देख ले।

श्रीकृष्णका पुरुषोत्तम योग

[१]

पहिले करि वैराग्य काटि जड़ जग पीपर की।
फेरि खोज करि भली भाँति परपद ईश्वर की॥
करि जा पदकूँ प्राप्त फेरि जग नहीं पधारें।
जाते जा संसार पुरातन तरु विस्तारें॥
आदि पुरुष जो जगतपति, ताई की हौं शरन हूँ।
यों मोकूँ सुमिरन करैं, हौं अशरन की शरन हूँ॥

[२]

जिनि में नाहीं मान मोह जो निरहंकारी।
संग दोष जिनि जीति लियो जो दृढ़ व्रतधारी॥
जिनिकी है अध्यात्म भाव में नित्य इस्थिती।
जिनिकी है गयि सबहिं कामननि की हू इतिश्री॥
सुख दुख संज्ञक द्वन्दनिहिं, पुरुष विमुक्त रहैं सतत।
ते ज्ञानी पावें परम-पद अविनाशी हू तुरत॥

[३]

परम धाम मय नित्य परमपद जो कहलावै।
संग दोष ते रहित पुरुष ज्ञानी जहँ जावै॥
जामें गयौ मनुष्य लौटि जग फेरि न आवै।
जाकूँ सूरज नहीं प्रकाशित करिवे चावै॥
जहाँ प्रकाशन चन्द्र को, नहीं अगिनि की पहुँच जहँ।
स्वयं प्रकाशित परमपद, भक्तिवान् जन रहत तहँ॥

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
(अप्रकाशित सार्थ छप्पय गीतासे)

श्रीकृष्ण भगवान्‌के युग परिवर्तनकारी अखंड राष्ट्रीय जीवनका चित्र

"युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ-द्वारा देशमें एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्यकी स्थापना हुई, जिसमें भारतके ही नहीं, एशिया और युरोपके अनेक राष्ट्र सम्मिलित थे।...श्रीकृष्णने इसका निर्माण किया, इसके रूपको संवारा और नवीन आदर्शोंकी प्रतिष्ठा की।"

राष्ट्रीय एकताके अग्रदूत—श्रीकृष्ण

श्रीशर्मनलाल अग्रवाल एडवोकेट

श्रीकृष्णका जीवन विविध रेखाओंसे अंकित, रंगोंसे सज्जित एक ऐसा पूर्ण चित्र है, जो युग-युगोंसे हमारे राष्ट्रीय जीवनकेलिये आदर्श और पूज्य बन चुका है। इस देशके बाहर संसारके भावुक हृदयों, बुद्धिवादियों एवं दार्शनिकोंको श्रीकृष्णके जीवनने बहुत अधिक प्रभावित किया है। भारतीय जनताने उन्हें अनेक रूपोंमें देखा और अपना आराध्य बनाया है। किसीके लिये वे छोटेसे सुकुमार बालक हैं, जो सौन्दर्यका प्रतीक है और जिसकी बाल लीलायें भक्त हृदयोंको सदैव ही मोहित करती रही हैं—

'कंस मार भू भार उतारन
प्रकटे कुमर कन्हाई
जसुमति जायो कुवर कन्हैया, मुरली मधुर बजाई.
गाय चरावत बन बन डोलें
कारी कामर वारो।'

उनका एक दूसरा रूप एक प्रेमीका रूप है। इस रूपमें वे गोपियोंसे प्रेम करते हैं, उनके साथ रासलीला रचाते हैं। मान मनौवल होता है और अंतमें गोपियोंको रोती-बिलखती छोड़कर ब्रजसे चले जाते हैं। गये युग बीत गया, पर गोपियोंके अश्रु उसी प्रकार बहते रहे। उनके वियोगमें यमुना श्याम होगई। ब्रजके वन-उपवन सूख गये। विरहकी यह धारा चिरकाल तक बहती रहेगी—ब्रजवासियोंके लिए अनन्तकाल तक चलती रहेगी—

'ऊधो कहाँ गये चित चोर'

श्रीमद्‌भागवतके इस रूपके अतिरिक्त श्रीकृष्णका एक और रूप है। महाभारतके श्रीकृष्ण श्रीमद्‌भागवत्‌के श्रीकृष्णसे सर्वथा भिन्न हैं। श्रीकृष्ण इस रूपमें शासितके पुत्र हैं। आदर्शसखा हैं, कर्मयोगी हैं, दार्शनिक हैं और राष्ट्रीय एकताके सूत्रधार हैं। उनका यह रूप आदर्श मानवका रूप है। उनके इसी रूपमें नारायणत्व प्रकट होकर संपूजित हुआ है।

नारायणं नमस्कृत्य
नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं
ततो जयमुदीरयेत् ॥

श्रीकृष्णके समय देशकी राजनीतिकस्थिति बहुत ही अस्थिर और डाँवाडोल थी। देश अनेक छोटे-छोटे राज्योंमें बँटा था। नरेश अत्याचारी थे। आपसमें लड़ते थे। प्रजापर अत्याचार करते थे। जरासंधने अनेक संभ्रान्त पुरुषों एवं स्त्रियोंको कैद कर रक्खा था। सारा देश खण्ड-खण्ड हो रहा था। महाभारतकारके शब्दोंमें:—

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियं कराः ।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट शब्दोहि कृच्छभाक् ॥

घर-घरमें राजा मौजूद हैं और केवल अपने ही हितमें लगे हैं। साम्राज्य किसीका नहीं है। 'सम्राट्' शब्द कहनाभी अब कठिन हो गया है।

भगवान् श्रीकृष्ण राष्ट्रीय जीवनकी इस दुर्बलताका अनुभव करते थे। वे देशको एक केन्द्रिय शासन, एक ध्वज एवं एक शासन-विधानके अन्तर्गत लाना चाहते थे। युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ इसका प्रमाण है। इससे पूर्व आवश्यक था कि देशके छोटे-छोटे अत्याचारी शासकों की शक्तिको समाप्त किया जाय। जरासंध भारतके एक बड़े भागका शासक था। उसके साम्राज्यका आधार न्याय नहीं, पाशविक बल था।

तस्माविह बलादेव साम्राज्यं कुरूते हि सः

जरासंध गणतंत्र भावनाके ही विरुद्ध था। आजकी राजनीतिमें सर्वाधिक प्रयुक्त शब्द 'आत्म निर्णयका अधिकार' (राएट ऑफ सेल्फ डिटरमिनेशन) उसके स्वभावके प्रतिकूल था। उसने अठारह भोजकुलोंको मिटाया, यादवोंके संघको नष्ट कर उसके स्थानपर कंसका एक छत्र राज्य स्थापित करनेमें योग दिया।

दूसरी ओर चेदि नरेश शिशुपाल भी अत्यधिक अनाचारी शासक था। श्रीकृष्णने उसका भी वध किया, किन्तु उसके वधके पूर्व उन्होंने जिस सहिष्णुता एवं धैर्यका परिचय दिया, वह एक अद्वितीय आदर्श है। उनका विश्वास था कि शक्तिकी एक मात्र कसौटी बल-प्रयोग नहीं, वरन् सहनशीलता है। जो जितना बलवान् है, वह उतनाही सहनशील होता है। दुर्बल मनुष्य क्या सहन करेगा ? शक्ति प्रयोग तो अन्तिम साधन है।

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञ-द्वारा देशमें एक शक्तिशाली केन्द्रिय राज्यकी स्थापना हुई, जिसमें भारतके ही नहीं, एशिया और यूरोपके अनेक राष्ट्र भी सम्मिलित थे। यह राज्य एक तंत्र और प्रजातंत्रका समन्वित रूप था। बहुत अंशोंमें वह राष्ट्रमण्डल (कॉमन वैल्थ ऑफ नेशन) की भाँति था। श्रीकृष्णने इसका निर्माण किया, इसके रूपको सँवारा और नवीन आदर्शोंकी प्रतिष्ठाकी।

महाकवि माघने महाराज युधिष्ठिरके द्वारा इस तथ्यका उद्घाटन बड़े सुन्दर शब्दोंमें कराया है—

'हे भारी भार सँभालनेवाले श्रीकृष्ण, आपकी कृपाका यह कितना बड़ा चमत्कार है कि आजसे सारा भारतवर्ष मेरे अधिकारमें हैं।'

श्रीकृष्ण द्वारा संस्थापित इस राज्यकी विशेषता यह थी कि सारा देश वाह्य और आन्तरिक रीति नीतिमें एक ही मार्ग पर चलनेमें मतैक्य था। उसके पीछे अधिकार-लिप्सा अथवा शोषणकी भावना नहीं थी।

राष्ट्रीय एकता अथवा क्रान्तिकेलिये यह आवश्यक है कि उसका नेता स्वयं पद-लिप्सासे दूर रहे। श्रीकृष्ण भगवान्ने इस अनुपम आदर्शकी स्थापनाकी थी। उन्होंने कंसको मारकर उग्रसेनको राजा बनाया। जरासंधके स्थानपर उसके पुत्र सहदेवको मगधके शासकके रूपमें प्रतिष्ठित किया। युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें उन्होंने स्वयं अतिथियोंके चरण पखारनेका कार्य लिया, यद्यपि नीति-संचालनका सारा भार उन्हींके कंधों पर था। 'एतद्दढगुरुभार' शब्दमें श्रीकृष्णके महान् दायित्वकी गम्भीर भावना छिपी हुई है।

राष्ट्रीय एकताकेलिए दूसरा आवश्यक कार्य यह है कि देशके भीतर व्याप्त गुप्त विघटनकारी शक्तियोंको समाप्त किया जाय। उस समय नाग-दानवोंके रूपमें, देशके विभिन्न भागोंमें अनेक विद्रोही तत्त्व छिपे हुए थे, जो शासनके नियमोंको स्वीकार नहीं करते थे। श्रीकृष्णने इस प्रकारकी सभी शक्तियोंका दमन करके उन्हें राज्यके आधीन किया।

राष्ट्र-संचालनमें कूटनीतिका भी अधिक महत्त्व होता है। यह कूटनीति अधर्म अथवा अन्यायपर आश्रित नहीं होती। इसका उद्देश्य होता है राष्ट्रका आधिकारिक हित। इसके लिये समय-समयपर नीति-परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। बार-बार जरासंधसे पीड़ित ब्रज-भूमिको उन्होंने जरासंधको सौंप दिया और प्रजाको सौराष्ट्रमें जा बसाया। वे नहीं चाहते थे कि काल यवनके हाथों ब्रज-वसुन्धराका विनाश हो। नगरोंको खालीकर, पीछे हटकर शत्रुओंको समूल मिटा देनेकी उनकी अपूर्व नीति थी। उनके द्वारा संस्थापित रण-नीतिका उपयोग आज भी विश्वके महान् राष्ट्र अपनी रण-नीतिमें करते हैं।

श्रीकृष्णने कई अवसरोंपर महत्त्वपूर्ण दौत्य कार्य भी किया। वे महाभारत युद्धको रोककर कौरवों और पाण्डवोंके बीच संधि करा देनेके प्रबल इच्छुक थे। उन्होंने इसके लिए कई योजनायें प्रस्तुतकी। उन्होंने पांडवोंको केवल पाँच ग्राम लेकर संधिके लिये सहमत कर लिया था। वे युद्धके विनाशकारी परिणामोंको जानते थे। श्रीकृष्णका विश्वास था कि युद्धको टालनेकेलिए जितने भी प्रयत्न सम्भव हों, करने चाहिये। युद्धका आश्रय केवल अन्तिम साधनके रूपमें ही लिया जाना चाहिये। वे कहते हैं :—

'धृतराष्ट्र पुत्रोंके वैरको जानता हुआ भी मैं इस संकटमें अपनेको डाल रहा हूँ, क्योंकि मैं देख रहा हूँ कि इस प्रलयकारी युद्धके परिणामस्वरूप पशु सहित सब पृथ्वी नष्ट हो जायगी। जो इस मृत्युपाशसे पृथ्वीकी रक्षा करेगा, वह महान् धर्मका काम करेगा। धर्म-कार्य करते हुए यदि सफलता न मिले तो भी पुण्यकी प्राप्ति हो जाती है। अतः इस विनाशकारी संग्रामसे कुरु-पाण्डववंशको बचानेकेलिये मैं पूरा प्रयत्न करूँगा।'

यद्यपि संधि-प्रयासमें श्रीकृष्णको सफलता न मिली पर उनका राजनीतिक रूप दीप्तिमान हो उठा। प्राणोंको संकटमें डालकर भी उन्होंने बड़ी निपुणतासे अपना कार्य किया। भय और प्रलोभन कोई भी उन्हें प्रभावित न कर सका। दुर्योधनके आतिथ्यको अस्वीकार करते हुए उन्होंने जो शब्द कहे, वे राजनीति और दौत्य-शास्त्रके अमर वाक्य कहे जायँगे—

'राजन्, मनुष्य किसीके यहाँ दो कारणोंसे भोजन करता है। आवश्यकतावश और प्रेमके कारण। आवश्यकता मुझे है नहीं और प्रेमका तो हम लोगोंके बीच परस्पर अभाव है।'

महाभारतका युद्ध श्रीकृष्णकी नीतिज्ञता और अर्जुनकी शक्तिका आदर्श प्रतीक है। पग-पगपर श्रीकृष्णके चातुर्य, उनकी महान् दूरदर्शिता और भक्तवत्सलताके दर्शन होते हैं। उनके हाथोंमें अर्जुनके रथके घोड़ोंकी रज्जु नहीं थी, वरन् इस रूपमें पाण्डवोंकी समस्त रण-नीतिकी बागडोर थी। अन्तमें पाण्डवोंकी विजय हुई। संजयने उचित ही कहा है :—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थोधनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयोभूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

टटोलिये, क्या आप ज्ञानवान् हैं ?

आप ज्ञानवान् हैं—आपका कथन है।
मैं मान लेता हूँ किंतु एक बात बतानी होगी।
क्या यह कथन तथ्योक्ति मात्र है ? इसमें आपका अभिमान नहीं झाँक रहा है ?
'नहीं,'—नहीं कह सकेंगे आप !

तो फिर अभिमानके रहते हुए ज्ञान 'ज्ञान' कहाँ ?

लेखा-जोखा लें आपके ज्ञान और अभिमान का !

जो भी आपका ज्ञान है, उसीके अनुपातमें यदि आपका अभिमान है, तो मुझे कहना होगा—आपको मानना होगा कि आप कुछ नहीं जानते, आपका ज्ञान शून्य है।

और जो कहीं अभिमान बढ़कर हुआ, तब तो भविष्यमें भी ज्ञान-प्राप्तिकी सम्भावना धूमिल ही है।

हाँ, यदि अभिमान कम हुआ, तो कहा जा सकता है कि आप कुछ जानते हैं, परन्तु 'कुछ' ही। अल्पताकी परिधिमें ही उछल-कूद कर रहा है आपका ज्ञान !

तो अब आप सोच लीजिये कि आप कैसे ज्ञानवान् हैं ?

जँचे तो पल्ले बाँध लीजिये, मैं तो केवल इतना कह सकता हूँ—

ज्ञानका लक्ष्य—ज्ञानका स्वरूप तो अभिमानसे रहित होना है।

अभिमान जितना ही कम होगा, उतना ही ज्ञानकी ज्योति जगेगी। यही ज्ञान है—श्रेष्ठ ज्ञान है।

सुना नहीं आपने, रहीम कविने इस अभिमानके बारेमें क्या कहा है—

सपनेहू नहिं कीजिये, निज मनमें अभिमान।
रहिमन याकों जानिये, सब अवगुणको खान॥

श्रीहरिकृष्णदास गुप्त 'हरि'

संत धरतीके कल्पतरु और उनके उपदेश उसके फलके सदृश हैं

"भयका हेतु क्या है? अहंकारपूर्वक किये हुये शुभाशुभ कर्म। परम आश्रय कौन है? भगवान् श्रीहरिका भक्त। मांगके योग्य वस्तु क्या है? श्रीहरिकी भक्ति। सुख क्या है? उन्हीं श्रीहरिका प्रेम।"

सन्तोंके मुखसे

एक सन्त-भक्त

सन्त धरतीके कल्पवृक्षके समान हैं। धरतीकी शीतनता और मिठास सन्तोंके उस दृढ़ चरित्रसे ही है, जो उसकी रक्षाकेलिए लौह-फाटकके सदृश है। सन्तोंने ही प्रेम, ज्ञान, दया, भक्ति, क्षमा और धैर्य तथा अहिंसा आदि गुणोंके अमृत-प्रवाहसे धरतीको अभिषिक्त किया है। सन्तों की कृपासे ही धरतीपर अव्यक्त परमात्मा व्यक्त हो सके हैं। सन्तोंने ही परमात्मासे हमारा परिचय कराया है। सन्तोंने ही परमात्माके उन अव्यक्त गुणोंको प्रकट किया है, जो हमारे जीवनके विकासके मूल तत्त्व हैं। सन्तोंकी कृपासे ही हमारे मनमें उस परमात्माके प्रति प्रेम और आकर्षण उत्पन्न होता है, जो हमारे जीवन और जगत्का विधाता है। सन्त ही हमारे सम्मुख उस प्रकाशका उद्घाटन करते हैं, जिसकी छायामें बैठकर हम परमात्माके सान्निध्यके सुखोंका उपभोग करते हैं। सन्त ही हमें उस चौरास्ते पर लेजाते हैं, जहाँसे हम सीधी राह पकड़कर परमात्माके दिव्य लोकमें पहुँच पाते हैं। सन्त ही हमारी उस दूरी और अभिन्नताको समाप्त करते हैं जिसका अनुभव हमारी अपनी ही अज्ञानताके कारण हमारे मनके भीतर होता है।

अतः सन्तोंकी वाणियाँ और उनके उपदेश उस आलोकके सदृश हैं, जो गहनसे गहन अँधेरेमें भी वास्तविक राहपर प्रकाश डालते रहते हैं। मनुष्यका प्रियसे प्रिय उसका साथ छोड़ सकता है, निराशाके मरुस्थलमें अकेले भटकनेके लिए परित्याग कर सकता है, पर यदि मनुष्य के जीवनकी गाँठमें सन्तोंकी वाणियों और उपदेशके मणि-रत्न हैं तो मनुष्य निराशाके मरुस्थलमें भी यह अनुभव न करेगा कि वह एकाकी है—निःसंबल और निराश्रित है। इतना ही नहीं, उसे निराशाके मरुस्थलमें भी, दुःखकी अँधेरी घाटियोंमें भी प्रशस्त राह मिलेगी। यहाँ हम जनकल्याणार्थ कुछ प्रवर सन्तोंकी वाणियों और उनके उपदेशोंको सामने प्रस्तुत कर रहे हैं—

श्रीसनातन गोस्वामी श्री गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदायमें एक महान् त्यागी सन्त और उच्च कोटिके विद्वान् हो चुके हैं। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी कल्याणकारिणी भक्ति पर मार्मिकताके साथ प्रकाश डाला है। निम्नांकित पंक्तियोंमें उन्हींके उपदेशों और वाणियों का सार हैं—

'श्रीकृष्णकी प्रेमा-भक्ति ही सर्व श्रेष्ठ है, वही सर्वोपरि है। और तो और स्वयं मुक्ति भी—जब वैष्णव लोग उसका परित्याग कर देते हैं—आश्रयकी कामनासे जप, यज्ञ, तपस्या एवं संन्यासकी निष्ठाको छोड़कर उन भक्ति—महारानीके चरणोंका ही सेवन करती है, क्योंकि वह जानती है कि संपूर्ण वेदोंका सार तत्त्व इन्हीं चरणोंमें छिपा हुआ है।

'मुरदानवका उद्धार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका नाम सर्वोपरि विराजमान है—वही सर्वोत्कृष्ट है। उसके जिह्वा पर आ जानेपर स्वधर्म पालन, ध्यान, पूजा आदि साधन (अपने आप) छूट जाते हैं। वह ऐसा श्रेष्ठ अमृत है कि किसी भी प्राणीके द्वारा एक वार भी ग्रहण किये जानेपर जन्म-मृत्युके पाशसे छुड़ा देता है; वही मेरा एक मात्र जीवन, वही मेरा एक मात्र भूपण है।

'श्रीकृष्ण ! तुम्हारी लीला-कथा रूपी अमृत नदी संसार-वृक्षकी जड़ उखाड़ डालती है। श्रीकृष्णकी तृष्णाके अतिरिक्त अन्य तृष्णा मात्र ही संसार-वृक्षको बढ़ानेवाली है, परन्तु तुम्हारी लीला-कथा-नदी श्रीकृष्ण-तृष्णाके अतिरिक्त अन्य तृष्णाका क्षय कर देती है। तुम्हारी लीला-कथा रूपी तटिनीमें नारदादि मुनि रूप चक्रवाक आनन्द-रस-पानसे मत्त हुए विचरण करते हैं। उसकी कल-कल ध्वनि कानोंको महान् आनन्द देती है। उसमें उत्कृष्ट रसका प्रवाह घूर्णित हो रहा है। तुम्हारी यह लीला कथा रूपी पीयूष कल्लोलिनी तटिनी मेरी जिह्वाके प्रांगणमें प्रवाहित हो।'

श्रीरूप गोस्वामी श्रीगौड़ीय वैष्णव संप्रदायमें उच्च कोटिके सन्त हो चुके हैं। चैतन्य महाप्रभुके कृपा कल्पतरुकी छायामें बैठकर, उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिव्य भक्तिपर बड़ी मार्मिकताके साथ प्रकाश डाला है। निम्नांकित पंक्तियोंमें उसी प्रकाशकी स्निग्धता है—

'श्रीकृष्णकी लीला एक ऐसी अद्‌भुत शिखरन (दूध और दहीके मिश्रणसे तैयार किया जानेवाला एक सुमधुर और सुगन्धित पेय) हैं जो चन्द्रमाकी किरणोंसे झरनेवाली सुधा-धाराओंके भी मिठासके गर्वको चूर्ण कर डालती है तथा जो श्री राधादि प्रेयसी-जनोंके गाढ़ एवं अविचल प्रेम रूपी कर्पूर-कणोंसे सुवासित है। चारोंओर सन्तापका सृजन करनेवाले संसार रूपी ऊबड़-खाबड़ मार्गपर चलनेसे उत्पन्न हुई तुम्हारी तृष्णा रूपी तृषाको वह शान्त करे।

'सन्त लोग अपने श्रमजनित क्लेशका कुछ भी विचार न करके सहज स्नेहवश दूसरोंका प्रिय कार्य रहते रहते हैं। अपनी प्रशंसाकी प्रस्तावनासे भी उसी प्रकार लज्जित होते हैं, जैसे कोई अपने पापके प्रकट होनेपर लज्जित होता है और विद्या, सम्पत्ति, तथा कुलीनता आदिके कारण—जो साधारण लोगोंमें बहुधा अभिमान उत्पन्न करती हुई पायी जाती है—अधिकाधिक नम्रता धारण करते हैं। सन्तोंकी यह एक अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुन्दर परिपाटी है।

'मेरे प्रभु सनातन-विग्रह भगवान् श्रीकृष्णका अवतार शरणागतोंके लिए अत्यन्त सुख-दायी सिद्ध होता है। वे चिन्मय, प्रकाशयुक्त, महामहिमशाली श्रीवृन्दावनके निकुंज-भवनोंकी पंक्तिके बीच सदा विराजमान रहते हैं—वहाँसे कभी एक पग भी दूर नहीं होते। वे असीम

और निर्वाध कृपाके सागर हैं। व्रजविहारसे उनका मन सदा रंजित रहता है। वे श्रीकृष्ण सदा मुझ पर प्रसन्न रहें।

'कृष्ण' यह दो अक्षरोंका नाम जब जिह्वापर नृत्य करने लगता है, तब ऐसी इच्छा होती है कि हमारे अनेक मुख—अनेक जिह्वायें हो जायँ। उसके कानोंमें प्रवेश करते ही ऐसी लालसा उत्पन्न हो जाती है कि हमारे अरबों कान हो जायँ। कानोंके द्वारा जब यह नाम-सुधा चित्त प्रांगणमें आती है तब समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको हर लेती है। चित्त सब कुछ भूलकर नाम सुधामें डूब जाता है। क्या जाने, इस सुमधुर नाम-सुधाकी सृष्टि कितने प्रकारके अमृतोंसे हुई है।'

श्री जीव गोस्वामी श्री गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायमें सुप्रसिद्ध दार्शनिक सन्त हो चुके हैं। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण, उनकी भक्ति और उनके परम प्रिय धाम श्री वृन्दावनका रहस्योद्घाटन बड़ी सुचारुताके साथ किया है। निम्नांकित पंक्तियोंमें उन्हींके मार्मिक भाव-चित्र हैं—

'भयका हेतु क्या है? अहंकार पूर्वक किये हुए शुभाशुभ कर्म। परम आश्रय कौन है? भगवान् श्री हरिका भक्त। माँगने योग्य वस्तु क्या है—श्रीहरिकी भक्ति। सुख क्या है—उन्हीं श्रीहरिका परम प्रेम।

'अहा वह दिन कब होगा जब श्रीवृन्दावनके चन्द्रमा भगवान् श्रीकृष्णके भक्त, पशु-पक्षी, तेली-तमोली आदि व्यवसायि वर्गके ल ग, ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि द्विजाति वर्णके मनुष्य, दास-दासियाँ, उनकी पोष्य गौएँ, सखा गोप-बालक, श्री बलदाऊजी भैया तथा उनके पितृ वर्ग एवं मातृ वर्गके गोप-गोपीवृन्द, उनकी प्रियतम गोपीजन और उनमें भी सर्व श्रेष्ठ श्री राधा आदि—उन समाज परिकरोंके समूहको जो उनकी अनूप रूप माधुरीका दर्शन करके लोकातिशायी आनन्दमें मग्न रहता है—हम प्रतिदिन अवलोकन करके निहाल हो जायँगे।'

स्वामी श्री प्रबोधानन्द सरस्वती श्री चैतन्य महाप्रभुके समसामयिक और पंथानुयायी थे। निम्नांकित पंक्तियोंमें उन्हींकी अमूल्य वाणियोंका निष्कर्ष है :—

'भाई! क्या तुमने अपना अन्तकाल निश्चय जान लिया है? और क्या तुम इस बलवान् मृत्युकी गतिको रोकनेमें समर्थ किसी महामन्त्रको जानते हो? अथवा क्या तुम ऐसा समझते हो कि मृत्यु तुम्हारे कार्यकी प्रतीक्षा करेगी, जिससे तुम बार-बार निःशंक होकर वृन्दावनधामसे अन्यत्र चले जाते थे।

'भाई श्रीवृन्दावनके वृक्षोंके नीचे विश्राम करो, व्रजके ग्रामोंसे भिक्षा ले आया करो तथा स्वेच्छापूर्वक श्रीयमुनाजीके जलका भर पेट पान करो, फटे-पुराने वस्त्रोंकी कंथा बना लो, सम्मानको घोर विष और नीचों द्वारा किये हुए अपमानको अमृत समझो तथा श्रीराधा मुरलीधरका बड़े प्रेमसे भजन करते हुए श्रीवृन्दावनका कभी परित्याग मत करो।'

महाकवि कर्णपूर श्री चैतन्य महाप्रभुके पंथानुयायी थे। उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण और उनके प्रेम तथा भक्ति-भावको लेकर देव-दुर्लभ माला पिरोयी है। निम्नांकित पंक्तियों में उन्हींकी मालामें लगे हुए सुमनोंका सौरभ है :—

'जो सुन्दर भौंहों वाली सुन्दरियाँ ऐसे पुरुष-भूषण श्री श्यामसुन्दरके द्वारा अपने हृदय को विभूषित नहीं करतीं उनके कुल, शील और यौवनको धिक्कार है। उनकी गुण-सम्पत्ति तथा रूप-सम्पत्तिको भी धिक्कार है।

'सखि ! मैंने श्यामसुन्दरके लिए अपने जीवनकी बाजी लगा दी है, मुझे गुरुजनों और सुहृदयोंसे क्या भय है ? यदि श्यामसुन्दर मिलते हैं तो (उनके मिलजानेपर) किसका भय है ? यदि नहीं मिलते तो भी (मुझ शरणार्थिनीको) किसका भय है ?

'यदि माधव मारते हैं तो उनके हाथसे मर जाऊँगी, यदि भाई-बन्धु श्रीकृष्ण प्रेमके कारण मेरा त्याग करते हैं, तो उस त्यागको सहर्ष वरण कर लूंगी, यदि साधु-पुरुष मेरी हँसी उड़ाते हैं, तो मुझे उस उपहासका पात्र बनना स्वीकार है। मैंने स्वयं सोच-समझ कर रमा वल्लभ प्यारे श्यामसुन्दरको अपने हृदयमें बिठाया है।

'सखि ! जिनका नाम ही कानोंके निकट आकर मेरी लज्जाको मथ डालता है, धैर्यके बाँधको तोड़ डालता है, गुरुजनोंके भयको भंग कर देता है, तथा मेरी चित्तवृत्तिको लूट लेता है, फिर वे यदि स्वयं आँखोंके सामने आ जायें तब तो मुझ-जैसी अबलाओंका क्या नहीं कर डालें।'

श्री चैतन्य महाप्रभुके पंथानुयायी उक्त प्रवर सन्तोंने श्रीकृष्ण भगवान्, उनकी भक्ति और उनकी दयालुताके सम्बन्धमें जो शाश्वत भाव प्रकट किये हैं, यदि हम उन भावोंको अपने हृदयमें स्थान देकर जीवनके पथ पर चलें तो यह निश्चय है कि हमारे पथमें सुख और शान्ति के फूलही फूल खिलेंगे। आइए, उन भावोंको हृदयमें स्थान देनेका संकल्प लें।

श्रीराम द्वारा अंकित धैर्यकी अमिट रेखा

भाई ! यह जीव ईश्वरके समान स्वतन्त्र नहीं है, अतः कोई यहाँ अपनी इच्छाके अनुसार कुछ नहीं कर सकता। काल इस पुरुषको इधर-उधर खींचता रहता है। समस्त संग्रहोंका अन्त विनाश है। लौकिक उन्नतियोंका अन्त पतन है। संयोगका अंत वियोग है और जीवनका अंत मरण है। जैसे पके हुए फलोंको पतनके अतिरिक्त और किसीसे भय नहीं है, उसी प्रकार उत्पन्न हुए मनुष्यको मृत्युके अतिरिक्त और किसीसे भय नहीं है। जैसे सुदृढ़ खंभेवाला मकानभी पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जरा और मृत्यु के वशमें होकर नष्ट हो जाते हैं। जो रात बीत जाती है, वह लौटकर फिर नहीं आती, जैसे यमुना जलसे भरे हुए समुद्रकी ओर जातीही है, उधरसे लौटती नहीं।

दिन-रात लगातार बीत रहे हैं और इस संसारमें सभी प्राणियोंकी आयुका तीव्रगतिसे नाश कर रहे हैं—ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यकी किरणें ग्रीष्म-ऋतुमें जलको शीघ्रता पूर्वक सोखती रहती हैं। तुम अपने ही लिये चिन्ता करो, दूसरेके लिये क्यों बार-बार शोक करते हो ? कोई इस लोकमें स्थित हो या अन्यत्र गया हो, जिस किसीकी भी आयु तो निरन्तर क्षीण ही हो रही है। मृत्यु साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और बहुत बड़े मार्गकी यात्रामें भी साथ ही जाकर वह मनुष्यके साथ ही लौटती है।

...लोग सूर्योदय होने पर प्रसन्न होते हैं, सूर्यास्त होनेपर भी खुश रहते हैं, किन्तु यह नहीं जानते कि प्रतिदिन अपने जीवनका नाश होरहा है। किसी ऋतुका प्रारम्भ देखकर मानो वह नयी-नयी आई हो, ऐसा समझकर लोग हर्षसे खिल उठते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि इन ऋतुओंके परिवर्तनसे प्राणोंका क्रमशः क्षय हो रहा है।

...इस संसारमें कोई भी प्राणी यथा-समय प्राप्त होनेवाले जन्म-मरणका उल्लंघन नहीं कर सकता। इसलिये जो किसी मरे हुए व्यक्तिके लिए बार-बार शोक करता है, उसमें भी वह सामर्थ्य नहीं कि वह अपनी मृत्युको टाल सके। [वा० रा० अयोध्या० १०५]

"परन्तु यदि जीवोंको पार्थिव जन्मसे मुक्त करनेके लिए ही भगवान्‌की सृष्टि होतीहो और ज्ञान प्राप्त करलेनेपर जीवका इस पार्थिव लोकको छोड़कर सदाके लिए यहाँ से चला जाना ही एकतम-उच्चतम लक्ष्य हो तो इससे सृष्टिमें कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। कारण ब्रह्म पूर्णतया मुक्त और आनन्दमय है। उसे किसी प्रकारकी मुक्तिकी आवश्यकता नहीं है। जीवात्मा भी ब्रह्म ही है और बन्धन तो एक आवरण मात्र है।"

अवतारका दार्शनिक और वैज्ञानिक आधार

श्रीकेशवदेव आचार्य

यह विश्व-सृष्टि कहाँसे हुई? क्यों हुई? कैसे हुई? मनुष्यका इसमें क्या स्थान हैं? मानव जीवनका अन्तिम लक्ष्य क्या है? ये प्रश्न बहुत प्राचीनकालसे विचारशील मनुष्योंके मनको पीड़ित करते रहे हैं। ऋग्वेदमें नारुदीय सूक्तमें कहा है कि यह सृष्टि अत्यन्त गूढ़ रहस्यमयी है। इसका कोई अध्यक्ष है जो यहाँसे बहुत दूर, कहीं उच्चत्तम आकाशमें रहता है। सम्भव है वही इसके रहस्यको जानता हो और हो सकता है कि वह भी न जानता हो। (सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद) जैसा भी हो, अनेक उच्चकोटिके ऋषियोंने अपने-अपने युगके अनुसार इनके समाधान खोजनेके प्रयत्न किए हैं और अपने अनुसन्धानोंसे मानव ज्ञानको समृद्ध किया है और मानव जातिके लिए अपने लक्ष्य पर पहुँचानेके पथका निर्देश किया है।

सृष्टिके जिस अध्यक्षका वेदने संकेत किया है, उसे उसने तद्, एवं सत् कहा है। उपनिषदोंने उसे आत्मा, ब्रह्म, सच्चिदानन्द, अक्षर, पुरुष कहा है। गीताने उसे परमात्मा, पुरुषोत्तम, ईश्वर कहा है। वह एक होते हुए भी अनन्त है। अनन्त उसकी सत्ता, अनन्त चेतना, अनन्त उसका आनन्द है। सृष्टिसे पूर्व उसकी अवस्था कुछ-कुछ ऐसी थी जैसे कोई मनुष्य प्रगाढ़ निद्रामें सोया हुआ हो (सुषुप्तमिव सर्वतः) अथवा जैसे कोई योगी समाधिकी गाढ़ निद्रामें निमग्न हो (योग निद्रां वितन्वतः)। एक समय ऐसा आता है, जबकि उसकी सुषुप्ति या योग-निद्रा भग्न होजाती है और उसमें अपने आपको अनन्त रूपोंमें व्यक्त करनेका संकल्प प्रकट होता है। (एकोऽहं वहुस्याम्) उसके भीतर यह संकल्प कोई वाहरी शक्ति उत्पन्न नहीं करती, अपितु उसकी अपनी ही इच्छासे उत्पन्न होता है। जिस प्रकार कोई

इंजीनियर मकान बनानेसे पहिले उसके सम्बन्धमें योजना बनाता है कि कितना लम्बा चौड़ा मकान हो, किस प्रकारके और कितने परिमाणमें ईंट, चूना आदि उसमें लगें और कितनी मजदूरी लगेगी इत्यादि, इसी प्रकार विश्वसृष्टा भी विश्वकी उत्पत्ति, प्रगति, उसके क्रम-विकास और अन्तिम स्वरूपके सम्बन्धमें योजना बनाता है, अपनी चेतनाके सामने उसका चित्र उपस्थित करता है। अपनी जिस शक्तिके द्वारा वह यह योजना बनाता है, उसे माया कहा गया है और जो योजनामय चित्र वह अपनी चेतनाके सामने उपस्थित करता है, उसे ईक्षण या विज्ञान कहा गया है। माया दो प्रकारकी होती है। विद्यामाया अर्थात् ज्ञानमयी माया और अविद्या माया अर्थात् अज्ञानमयी माया।

उसकी सत्ता, चेतना और आनंद एक दूसरेके साथ पूर्णतया एक हैं। सत्ता, चेतना और आनन्द है। चेतना, सत्ता और आनन्द है। आनन्द, सत्ता और चेतना है। यदि ये इसी प्रकार अभिन्न बने रहें तो सृष्टि नहीं हो सकती है। अतः सृष्टिका संकल्प होनेपर इनमें गौण और प्रधान भाव उत्पन्न होजाता है। पहले सत्ता तत्व प्रधान होता और चेतना और आनन्द गौण होजाते हैं। तब सत्लोग या सत्यलोक उत्पन्न होजाता है। चेतना जब प्रधान होती है और सत्ता और आनन्द गौण होजाते हैं, तब चिन्मय लोक अथवा तपलोक सृष्ट होजाता है। आनन्दके प्रधान होनेपर और सत्ता एवं चेतनाके गौण होनेपर आनन्दमय लोक अथवा जन लोककी सृष्टि होती है। विज्ञान तत्त्वकी प्रधानता होनेपर विज्ञानमय लोक अथवा महा लोक की सृष्टि होती है। यह विद्यामायाके द्वारा भगवान्‌की दिव्य ज्योतिर्मयी सृष्टि है। यहाँ जीवोंमें एकता होते हुए भी भेद अवश्य है, परन्तु विभाग और अज्ञान नहीं। इस सृष्टिको परार्ध कहा गया है।

इसके अनन्तर विज्ञानमय तत्वसे मन और मनोमय लोककी, चेतनासे प्राण तत्व और प्राणमय लोककी, सत्तासे जड़ तत्व और भूलोककी सृष्टि होती है। यह अविद्या मायाके द्वारा विभाग और अज्ञानमयी सृष्टि है। इसे त्रिलोकी कहा गया है। इस सृष्टिको अपरार्ध भी कहा गया है। इसमें सच्चिदानन्दका आनन्द तत्व जीवात्माका रूप धारण करके आता है।

इस सम्पूर्ण सृष्टिको परमात्माका अपने परमधामसे, अपने उच्चतम स्थानसे नीचेको अवतरण करना भी कहा जासकता है। पहली सृष्टिमें उसका दिव्यभाव पूरी तरह अभिव्यक्त रहता है। दूसरी सृष्टिमें दिव्यभाव छिप जाता है। इसके अनन्तर दूसरी प्रकारकी सृष्टि प्रारम्भ होजाती है, जिसमें नीचेसे ऊपरकी ओर आरोहण और विकास होता है, एक विशेष प्रकारका अवतरण इसमें भी है। यह अवतरण(descent)और तिरोभावया अंतर्लयन(involution) तथा आरोहण (ascend) और विकास (enolution) इस सम्पूर्ण सृष्टि-प्रक्रियाका रहस्य है।

भौतिक विज्ञानके अनुसार पृथ्वीके इतिहासमें कभी ऐसा समय था जबकि यह आगका गोला थी। यहाँ न पानी था न वनस्पति, जीवोंके अस्तित्वकी बात तो दूर थी। जिस प्रकार वर्तमान युगमें समुद्रसे पानी की तरंगें उठती हैं, उसी प्रकार कभी यहाँ अग्निकी लपटें उठा करती थीं। जिस प्रकार इस युगमें आकाशसे पानीकी वर्षा होती है, उसी प्रकार कभी यहाँ अंगारोंकी वर्षा हुआ करती थी। धीरे-धीरे पृथ्वी ठण्डी हो गयी और यहाँ भिन्न-

भिन्न प्रकारके परमाणुओंके संयोगसे, जो परमाणु एक प्रकारसे अग्निके ही बने थे, पानी प्रकट होगया। हमारे प्राचीन शास्त्रोंमें भी अग्निसे जलकी उत्पत्ति बतलाई गई है। (अग्नेरापः)।

हम देखते हैं कि गेंहूँ चने आदिके बीजको पानी और मिट्टीमें रखनेपर इनकी क्रियाके प्रभावसे उसके भीतरसे छोटी-छोटी जड़ें और पत्तियाँ प्रकट होजाती हैं। परन्तु जब यहाँ न कोई वृक्ष था न बीज, तबकी अवस्था भिन्न थी। उस समय यहाँ प्राणमय लोकसे प्राणतत्वका अथवा दूसरे शब्दोंमें प्राणरूपधारी भगवान्‌का अवतरण हुआ और उस प्राणशक्तिकी क्रियाके प्रभावसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाशके बने इस जड़ पिण्डमें से एक ऐसा सजीव पिण्ड प्रकट हुआ, जिसमें खाने, पीने, श्वास लेने, जीवन धारण करने, सुख दुःखका अनुभव करनेके लिये जड़ें, पत्ते, तने, तंत्रिका आदि अङ्ग विकसित होगए। यह वनस्पति जगत्‌की सृष्टि है।

इसके अनन्तर यहाँ मनोमय लोकसे अर्धचेतनमन रूपधारी भगवान्‌का अवतरण होता है। उस अर्धचेतन मनकी कृपाके प्रभावसे इस जड़ तत्वके पिंडमें अनेक प्रकारके ऐसे अंग विकसित होजाते हैं कि जिनके द्वारा वह मन क्रिया कर सके। खाने-पीने और बोलनेके लिए मुख, चलने-फिरनेके लिए पैर, काम करनेके लिए हाथ, देखनेके लिए आँखें, सुननेके लिए कान, श्वास लेनेके लिए नासिका आदि। इसी प्रकार यहाँ मछली, कछुआ, गाय, बैल, सिंह, हाथी, हिरण, पक्षी आदि पशु प्रकट होजाते हैं।

अर्ध-चेतन मनका यह अवतरण एक साथ पूर्ण-रूपमें होजाता है—ऐसा नहीं है। यह धीरे-धीरे विकासकी भूमिकाके अनुसार होता है। उदाहरण स्वरूप यह कहा जा सकता है कि पहले पानीमें मछली आदि ऐसे जीव-जन्तु सृष्ट हुए, जिनका जीवन पूर्णतया पानी पर ही निर्भर करता है। वहाँ पानीका बन्धन है। वे पानी के बाहर खुली हवामें जीवित नहीं रह सकते। इसके अनन्तर कुछ अधिक चेतनाके अवतरणसे कूर्म आदि ऐसे जीव विकसित हुए, जो खुली हवामें भी रह सकें चौर पानीमें भी। इसके अनन्तर और भी अधिक चेतनाके अवतरण से गाय, हिरण, सिंह आदि जीव विकसित हो गए, जहाँ पानीका बन्धन सर्वथा दूर हो गया है।

यह पशु सृष्टि है। इसमें वनस्पतिकी अपेक्षा सुख-दुखका अनुभव करने की चेतना स्पष्टतया जागृत है। परन्तु यहाँ चेतनाकी क्रिया केवल खाने, पीने, सन्तान उत्पन्न करने, और जीवन धारण करने तक ही सीमित है। पशु जिस स्थितिमें प्रकृतिने उत्पन्न कर दिया है, वहीं किसी प्रकार जीवित बने रहनेमें सन्तुष्ट रहता है। उसकी बुद्धिमें यह शक्ति नहीं है कि अपने लिए वह किसी भावी ऊँचे सुखकी कल्पना कर सके या उसके लिए कोई प्रयत्न कर सके। यह सहज बुद्धि (Instinct) का जीवन है।

इसके अनन्तर पूर्ण चेतनाका अथवा पूर्ण चेतना रूपधारी भगवान्‌का अवतरण होता है। इस चेतनाको हमने पूर्ण इस कारण कहा है क्योंकि यह पृथ्वीपर अभी तक विकसित हुए प्राणियोंकी चेतनाकी अपेक्षा उच्चकोटिकी है। वस्तुतः इससे ऊँची चेतनाभी है और उसकी अपेक्षा इसे अर्ध चेतना या मध्यवर्ती चेतना कहना अधिक उपयुक्त होगा।

इस चेतनाकी क्रियाके प्रभावसे यहाँ मनुष्यका विकास होता है। मनुष्यके मनमें यह शक्ति है कि वह अपने लिए किसी उच्चतर सत्य और सुखकी कल्पना कर सकता है और

उसके लिए प्रयत्न भी कर सकता है। गाय, घोड़ा आदिके मनमें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वे अधिक वर्षा, सर्दी, गर्मी, आदिसे बचनेकेलिए मकानका निर्माण कर सकें। यदि कहीं फलोंका बाग हो तो बन्दर कच्चेही फलोंको तोड़कर फेंक देंगे और फिर भूखों मरेंगे। मनुष्य धैर्य रखकर उन्हें सुरक्षित रख सकता है और फिर पीछे से आरामसे खाता है। इसी प्रकार मनुष्यने अपनी बुद्धिके प्रभावसे हवामें उड़ने, दूरसे बातें करने, दूरके दृश्योंको देखने आदिके ऐसे साधन उत्पन्न कर लिए हैं कि जिससे उसकी शक्ति लाखों गुना अधिक हो गई है। एक प्रकारसे वह प्रकृतिके आधीन नहीं है, अपितु प्रकृतिका प्रभु होगया है।

मनुष्यके इस पूर्ण चेतन मनने अपनी क्रियाके लिए अपनी शक्तिके प्रभावसे ऐसा मस्तिष्क विकसित कर लिया है कि जिसके द्वारा वह भावी योजनायें बना सकता है, उसने ऐसी आँखें प्राप्त करली हैं कि जिनके द्वारा वह दूसरोंके आन्तरिक भावोंको कुछ सीमा तक ग्रहण कर लेता है। ऐसा कण्ठ सृष्ट कर लिया है कि जिसके द्वारा वह भिन्न-भिन्न प्रकारके भावोंको व्यक्त कर सकता है, मधुर संगीत गा सकता है। ऐसी उँगुलियाँ विकसित करली हैं कि जिनके द्वारा वह लेखन, चित्रकारी आदि कर्म कर सकता है और अनेक प्रकारके उपकरण बना सकता है। यदि यह मन गधेकी देहमें चला जाय तो उस कण्ठसे न कोई गाना गा सकेगा और न हाथोंसे कोई चित्रकारी कर सकेगा। कुत्ते या बिल्लीके शरीरमें जानेपर खेती, व्यापार, शिल्पकारी नहीं कर सकता। इन सब कार्योंके लिए एक विशेष प्रकारके अङ्ग आवश्यक हैं, जो केवल मानव देहमें ही हैं और किसी भी पार्थिव जीवकी देहमें नहीं। इसी भावको उपनिषदोंने भिन्न प्रकारकी भाषामें व्यक्त करते हुए कहा है कि सृष्टिकर्त्ताने पशुदेहकी सृष्टि करके देवताओंको उसमें प्रवेश करनेका आदेश दिया। देवताओंने उत्तर दिया कि यह हमारे लिए उपयोगी नहीं है। फिर उसने मानव देहकी सृष्टिकी, जिसे देखकर देवताओंने कहा कि यह ठीक है (सुकृतंवत) और उसमें प्रवेश कर लिया।

परन्तु मनुष्यपर अज्ञान और अहंकारका बन्धन है। वह अज्ञानवश दूसरोंके सच्चे हितको नहीं जान सकता। यदि थोड़ा बहुत जानभी जाता है तो उसका अहंकार उसे अपने निजी देह या परिवार या समाज या राष्ट्रके साथ आसक्त किये रहता है और दूसरे व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रोंके हितके लिए प्रयत्न करनेमें बाधा डालता है। यदि कोई विशेष मनुष्य इस अहंकारसे ऊपर उठ जाये, तबभी उसे रोग, बुढ़ापा, मृत्युके कष्टोंको तो भोगना ही पड़ता है। उसे इस पार्थिव सुखकी अपेक्षा किसी ऊँचे सुखका-अपने उस यथार्थ सुखका जो कि आत्मा, परमात्माकी प्राप्तिसे प्राप्त होता है, ज्ञान नहीं होता। पृथ्वीपर बहुतही कम व्यक्ति ऐसे होते हैं कि जिनकी प्रवृत्ति इस ओर होती है और इसके लिए प्रयत्न करते हैं और इनमें भी बहुत ही कम मनुष्य प्रयत्न करते हुए परमात्माके समीप पहुँच जाते हैं।

मनुष्यके इस प्रयासमें सहायता देनेकेलिए समय-समयपर भगवान् मानव देह धारण किया करते हैं। जिस समय मनुष्यके मनमें तमोगुण और रजोगुणकी प्रधानता थी और राक्षसी भाव प्रबल था, उस समय सात्विक मनकी शक्तिको लेकर भगवान् रामके रूपमें यहाँ आते हैं और उस बढ़े हुए राक्षसी भावको समाप्त करके सात्विक शक्तिको सदाके लिए इस पृथ्वीपर छोड़ जाते हैं। इसी प्रकार जब मनुष्योंकी प्रकृति पार्थिव सुख-भोगोंकी ओर अधिक थी, तब भगवान् सात्विक मनसे ऊपर अधिमन या अध्यात्म मानापन्न मनकी शक्तिको लेकर

श्रीकृष्णके रूपमें यहाँ आते हैं और हमारे अर्धज्ञान और अर्धअज्ञानमय मनको बनाए नियमों से ऊपर उठाकर एकमात्र भगवान्‌की शरण ग्रहण करने, मोक्ष या निर्वाणको प्राप्त करने और ऐसे स्थानोंमें पहुँचनेका आदेश देते हैं कि जहाँसे फिर इस विनाश-शील दुःखमय पृथ्वी लोकमें आना नहीं होता।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमम् मम।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकम् शरणं व्रज।

जीवात्माकी अपने पार्थिव जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्ति निःसन्देह एक बहुत ऊँचा लक्ष्य है, जिसका प्राप्त करना प्रत्येक जीवके लिए अपरिहार्य है। परन्तु यदि जीवोंको पार्थिव जन्मसे मुक्त करनेके लिए ही भगवान्‌की सृष्टि होती हो और ज्ञान प्राप्तकर लेनेपर जीवका इस पार्थिव लोकको छोड़कर सदाकेलिए यहाँसे बाहर चले जानाही एकतम, उच्चतम लक्ष्य हो तो इससे सृष्टिमें कोई विशेष महत्व नहीं रह जाता। कारण ब्रह्म पूर्णतया मुक्त और आनन्दमय है। उसे किसी प्रकारभी मुक्तिकी आवश्यकता नहीं है। (स तु, सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः)। जीवात्मा भी ब्रह्मही है और बन्धन तो एक आवरणमात्र है। इस सृष्टिसे न तो ईश्वरको कोई वास्तविक लाभ है, न जीवको। वेदान्त दर्शनमें सृष्टिका उद्देश्य बताया गया है लीला (लोक वत्तु लीला कैवल्यम्) अर्थात् भगवान्‌का जीवोंको सृष्ट करके उनके साथ अपनी दिव्य सत्ता, दिव्य चेतना, दिव्य आनन्दकी लीला खेलना। पृथ्वीपर अभी तक जो जीवोंके साथ भगवान्‌की लीला हुई है वह सदोष मन, प्राण और देहोंवाले जीवोंके साथ हुई है, क्योंकि अभी तक जीवोंके मन, प्राण और शरीर दिव्य नहीं बने हैं। गोपियोंके साथ भगवान्‌की लीला भी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, सदोष मन, प्राण और देहवाले जीवोंके ही साथ है। भगवान्‌की पृथ्वीपर लीला तभी हो सकती है, जबकि जीवात्मा भगवान्‌की आराधना करते हुए और निष्काम भावसे अपने समस्त कर्म उनके अर्पण करते हुए अपने मन, प्राण और शरीरको भी दिव्य बनायें। शरीर, प्राण और मनका दिव्य भाव केवल तभी होसकता है जबकि यहाँ भगवान् विज्ञानमय लोकसे विज्ञानमयी शक्तिको लेकर अवतार धारण करें और जीवोंके दिव्य रूपान्तरमें सहायता करें। विश्व सृष्टिके विकासका इतिहास भावी युगके लिए इस प्रकारके अवतार और ऐसी साधनाका संकेत करते हैं।

सब कुछ भगवान्‌के समर्पण करो

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽऽत्मना वानुसृतस्वभावत्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्॥
(श्रीमद्भागवत् ११।२।३६)

—भागवत धर्मका पालन करनेके लिए यह नियम नहीं है कि एक विशेष प्रकारका कर्म ही करे। वह शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अनेक जन्मों अथवा एक जन्मकी आदतोंसे स्वभाववश जो-जो करे, वह सब परम पुरुष भगवान् नारायणके लिए ही है—इस भावसे उन्हें समर्पण करदे।

"भागवतधर्मकी समन्वयवादी दृष्टिने भारतीय जन-जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। यही कारण है कि मानव-जीवन पग-पगपर इससे प्रभावित हुआ है। साहित्य, कला, संगीतपर भी इसकी छाप है।"

भागवतधर्मकी परम्परा और उसका विकास

डा० श्रीमधुकर भट्ट पी० एच० डी०

भारतीय धर्म साधनामें भागवतधर्मका महत्वपूर्ण स्थान है। यह वैष्णव धर्मका अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय स्वरूप है। भागवतधर्मका मूल तात्पर्य उस धर्मसे है जिसके उपास्य स्वयं ईश्वर हैं। लीला पुरुषोत्तम योगिराज श्रीकृष्ण ही 'भगवान्' या 'ईश्वर' शब्दके वाच्य हैं। भागवतमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"। अतः भागवत धर्ममें श्रीकृष्ण ही परमोपास्य तत्व हैं जिनकी आराधना-भक्तिके द्वारा भक्तको भगवान्का सानिद्धय प्राप्त होता है और वह ब्रह्मानन्द सिद्धिका अधिकारी होता है। यद्यपि भागवतधर्म एक विशिष्ट सप्रदायका बोधक है तथापि इसका स्वरूप नामसे अधिक विस्तृत परिवेशमें व्याप्त है। भागवतोंका महामन्त्र "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" द्वादश अक्षरोंका अत्यन्त प्रेरक मन्त्र है। भागवतधर्म वासुदेव श्रीकृष्णको ही परमतत्व मानता है।

भागवतधर्म भारतीय धर्मोंके बीच एक प्राचीन धर्म है। इसकी अपनी परम्परा है। इसकी प्राचीनताके अनेक सवल प्रमाण हमें दिखाई पड़ते हैं। गुप्त सम्राट अपनेको "परम-भागवत" की उपाधिसे ही अलंकृत करते थे। उनके शिलालेखों, प्राप्त ताम्रपत्रों, मुहरों और सिक्कोंमें भी इस उपाधिका उल्लेख मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विक्रम पूर्व प्रथम तथा द्वितीय शताब्दियोंमें भी यह धर्म सर्व व्यापक और लोकप्रिय था। ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें यह उल्लेख मिलता है कि वसु नामक व्यक्तिने महा-स्थान (जन्मस्थान) में भगवान् श्रीकृष्णके एक मन्दिर, तोरण, वेदिका एवं भवनका निर्माण किया था। मथुरामें श्रीकृष्ण-मन्दिरके निर्माणका यह प्रथम उल्लेख है। इसी प्रकार पातंजल महाभाष्यसे प्राचीनतर महर्षि पाणिनिके सूत्रोंकी समीक्षा भागवतधर्मकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिये निःसंदिग्ध प्रमाण है।

"वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" (४।३।९८) के सूत्रमें पाणिनिने श्रीकृष्ण (वासुदेव) की भक्ति करनेवाले भक्तके अर्थमें न् (अक) प्रत्ययका विधान स्पष्ट किया है। इस सूत्रका मुख्य अर्थ—"वासुदेवाक्—परब्रह्म परमात्मा वासुदेव है, न कि किसी लौकिक पुरुषका पुत्र।

भागवतधर्मकी यही परम्परा हमें बादके युगमें दिखाई पड़ती है। बादमें भारतमें हुए धार्मिक आंदोलनोंसे और भी बल इस धर्मको मिला। इसकी ठोस आधार भूमिके कारण ही युगके अनेक झंझावातोंने भी इसके विकासमें कोई रुकावट पैदा नहींकी।

भागवतधर्मकी सबसे बड़ी विशेषता इसकी उदारता, सर्वव्यापकता और सहिष्णुता है। इस धर्ममें हर वर्गके लोग दीक्षित होते रहे। भगवान् वासुदेवके प्रति प्रेमरखनेवाला प्रत्येक जीव इस धर्मका अनुगामी हुआ। कदाचित् इसीलिए परधर्मावलम्वियोंने भी वासुदेवके चरण-कमलोंमें भक्ति कर अपनेको समर्पित किया। मुसलमान सन्तोंका झुकाव तो बहुत अधिक संख्यामें इस ओर हुआ। यहाँ तक कि उनके भीतर आत्म समर्पणकी जितनी उच्च भावना दिखाई पड़ती है, अन्यत्र दुर्लभ है। सन्त रसखानने—

'मानुष हौं तो वही रसखान,
बसौं व्रज गोकुल गाँवके ग्वारन'

कह कर उत्कृष्ट वासुदेव-भक्तिका उदाहरण प्रस्तुत किया। भागवत पुराणने स्पष्ट घोषणाकी है—

"किरात हूणांध्र पुलिंद पुल्कसा
आभीर कंका यवना खशादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रया:
शुध्यंति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥"

[किरात, हूण, आंध्र, पुलिंद, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन, खशआदि जंगली तथा विधर्मी जातियों और अन्य पापी जनोंने भगवान्के भक्तोंका आश्रय लेकर शुद्धि प्राप्तकी है, उन प्रभावशाली भगवान्को नमस्कार।]

भागवतधर्मका एक प्रधान अंग है—"अहिंसा परमो धर्मः"। अहिंसा पर इस धर्मने बहुत बल दिया है। 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' इस श्रुति वाक्यका अक्षरशः अनुगमन सर्वप्रथम भागवतधर्ममें ही मिलता है।

भागवतधर्मके मान्य ग्रंथ श्रीमद्भागवत्का अष्टादश पुराणोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थान है। इसके अनुसार 'ब्रह्म' परम सत्य है, वही कल्याणकारी और सुन्दर है जिसे गृहस्थ परमात्मा और वैष्णव 'भगवान्'के नामसे सम्बोधित करता है। वैराग्य, ज्ञान, आत्मा, परमात्माका स्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थमें बड़े सरल और मार्मिक ढंगसे हुआ है। इस प्रकार जहाँ एक ओर यह ग्रन्थ अपना ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक महत्त्व रखता है, वहीं दूसरी ओर इसका एक और सबल पक्ष, इस ग्रन्थका साहित्यिक महत्त्व है। अपने विषय विवेचन तथा प्रतिपादन की प्रौढ़ता एवं काव्यमयी-सरसता, सहज बोधगम्यताके कारण सबसे अधिक महत्वशाली और साहित्यिक हो गया है। रागानुगा भक्तिकी गम्भीर मीमांसा भागवतधर्मकी विश्वके सभी धर्मोंको महान् देन है। रागानुगा प्रेम-भक्तिके बारेमें स्वयं भागवतकार कहता है—

"न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च।
प्रीयतेऽमलया भक्तया हरिरन्यद् विडंबनम्॥"

कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीमद्‌भागवतमें ज्ञानके स्थान पर भक्तिको विशेष महत्त्व दिया गया है। भागवत्कारने मोक्षकी अपेक्षा भक्तिके आकर्षणको अधिक स्वीकार किया। भागवतोंने भक्तिको अपना मूल विंदु स्वीकार किया है।

भागवतका आध्यात्मिक दृष्टिकोण अद्वैतवादका है तथा साधना-दृष्टि भक्तिकी है। अद्वैतके साथ भक्तिका सामंजस्य भागवतधर्मकी अपनी विशिष्टता है। इन्ही कारणोंसे भागवत वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारतके साथ संस्कृतकी उपजीव्य काव्यत्रयीके अंतर्भूत माना गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भागवतधर्म और उसकी दीर्घकालीन परम्परा भारतीय धर्म-साधनाका उज्जलतम पक्ष है। भागवतधर्मकी समन्वयवादी दृष्टिने भारतीय जन-जीवनपर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। यही कारण है कि मानव जीवन पग-पगपर इस मतसे प्रभावित हुआ है। साहित्य, कला, संगीतपर भी इसकी छाप है। साहित्यमें सूरदास, नंददास, छीत स्वामी, हितहरिवंश, चंडीदास, श्री भट्ट, हरिव्यास, स्वामी हरिदास, विद्यापति, ज्ञानदास, गोविंददास, शंकरदेव, माधवदेव, उपेन्द्र भंज, दीनकृष्णदास, नामदेव, वामन पंडित, नरसी मेहता, मीराबाई आदि विभिन्न भाषा-भाषी कवियोंने अपने विषय-वस्तुका चुनाव भागवतसे ही किया। उत्तर तथा मध्यभारतकी भाषाओंमें ही नहीं तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम के कवि भी प्रत्यक्ष रूपसे इस धर्मके 'श्री मद्‌भागवत्' ग्रन्थसे प्रभावित हुए और उनकी परम्परा में काव्य-रचनाएँ प्रस्तुत कर अपने आपको भगवान् श्रीकृष्ण (वासुदेव) के चरणोंमें समर्पित कर दिया। वास्तमें भागवतधर्म—विश्वके प्राचीनतम धर्मोंमें माननीय, महनीय और जन-जीवनका प्रेरणा स्रोत रहा है।

श्रीकृष्णः शरणं मम"

ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय

अमृत मंथन

सत्य यदि जीने योग्य प्रतीत न हो तो उसे माननेयोग्य मानना भी उचित नहीं है।

हम स्वयं ही स्वयंको जितना धोखा देते हैं, उतना और कौन हमें दे सकता है ? इस भाँति स्वयंके ही हम शत्रु हैं, लेकिन इससे ही ज्ञात होता है कि हम चाहें तो स्वयंके मित्र भी हो सकते हैं, और जीवनमें धर्मका प्रारम्भ वहींसे है, जहाँसे स्वयंसे मित्रताकी शुरूआत है।

विश्वास और अविश्वास दोनों ही बंधु हैं। उन दोनोंमें कोई भी भेद नहीं। उनके शरीर ही भिन्न हैं, आत्मा नहीं। इसलिये जिसे सत्यको खोजना है, उसे उन दोनों से समानतः सावधान होना आवश्यक है। एक कुआँ है तो दूसरा खाई, गिरनेके लिये तो दोनों ठीक हैं। लेकिन जिसे चलना है. उसके लिये मार्ग मध्यमें है, क्योंकि चित्त दोनोंसे मुक्त हो करके ही मुक्त होता है। जो न आस्तिक है, न नास्तिक, न विश्वासी, न अविश्वासी, वही और केवलवही सत्यकी यात्रा पर निकल सकता है।

"अत्रि ऋषिने पुत्रेच्छाकी भावनासे अति उग्र तपश्चर्याकी, जिससे ज्योतिर्मय भगवान् अतीव तुष्ट हुए और उन्होंने स्वयंको ही अत्रि ऋषिको समर्पित कर दिया। कालान्तरमें बदरिकाश्रममें अत्रि-अनुसूयाके यहाँ उन्होंने अवतार धारण किया। 'दत्त' अर्थात् दिया और अत्रिका पुत्र होनेके नाते 'आत्रेय'—इस प्रकार उनका दत्तात्रेय नामकरण हुआ।"

जगद्गुरु श्रीदत्तात्रेय

श्रीकृष्णमुनि प्रभाकर

हमारा भारतीय वाङ्मय ऐश्वरवादकी समुज्ज्वल भावनाओंसे ओतप्रोत है, इसीलिये अवतारवादके सिद्धान्तको मौलिक रूपसे प्रायः सभी हिन्दू सम्प्रदाय अंगीकार करते हैं। श्रीदत्तात्रेयके अवतारकी चर्चा उपनिषदों और पुराणोंमेंही नहीं, अपितु इतर कई धर्मग्रन्थोंमें भी उपलब्ध होती है। उनका अवतार त्रेतायुगमें हुआ था, लेकिन धर्मतत्त्व उनकी विद्यमानता को इस कलियुगमें भी स्वीकृति देता है। दक्षिण भारतमें श्रीदत्तात्रेयकी आराधनाका विशेष प्रचलन है। श्रीजयकृष्णी सम्प्रदायमें जिन पांच अवतारोंकी भक्तिका विधान है, उनमें श्रीदत्तात्रेय दूसरे क्रममें आते हैं और उन्हें गुरुपरम्पराकी दृष्टिसे पंथका 'आदिकारण' या 'मूलप्रवर्त्तक' भी माना गया है।

जाबालदर्शनोपनिषद्में श्रीदत्तात्रेयको साक्षात् 'महाविष्णु'का चतुर्बाहु अवतार कहा गया है। यथा : "चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः"। शाण्डिल्योपनिषद्में श्रीदत्तात्रेय की शब्द- व्याख्या और जन्मकथा इस प्रकार वर्णित है—'अत्रि ऋषिने पुत्रेच्छाकी भावनासे अति उग्र तपश्चर्याकी, जिससे ज्योतिर्मय भगवान् अतीव तुष्ट हुये और उन्होंने स्वयंको ही अत्रि ऋषिको समर्पित कर दिया। कालान्तरमें बदरिकाश्रममें अत्रि-अनुसूयाके यहाँ उन्होंने अवतार धारण किया। 'दत्त' अर्थात् दिया और अत्रिका पुत्र होनेके नाते 'आत्रेय'—इस प्रकार उनका दत्तात्रेय नामकरण हुआ।' —यह वैदिक व्याख्या है।

भागवतमें श्रीदत्तात्रेयको विष्णुके अंशके रूपमें निरूपित किया गया है। श्रीदत्तावतार का वर्णन भविष्य, शिव, ब्रह्म, मार्कण्डेय, वायु और अग्नि आदि पुराणों तथा पन्द्रहवीं सदीमें संस्थापित 'दत्तसम्प्रदाय'के धर्मग्रन्थ 'गुरुचरित्र'में भी प्राप्त होता है।

श्रीदत्तात्रेयकी लीलाओंसे सम्बन्धित अनेक मनोहारी कथाएँ विभिन्न धर्मग्रन्थोंमें विवेचित हैं। भागवतमें उनके चौबीस गुरुओंके आख्यानको प्रतिपादित किया गया है, जिसका निरूपण

उन्होंने ब्रह्मजिज्ञासु राजा यदुके प्रति किया था। इस ज्ञानपरिपूर्ण आख्यानके माध्यमसे उन्होंने जीवमात्रको निरासक्त भावसे समदर्शी बनकर संसारमें रहनेका मूलमन्त्र सिखाया और परोक्षतः यह प्रकट किया कि किसी भी जीव अथवा वस्तुके दोषोंको देखनेकी अपेक्षा हमें उदार अन्तःकरणसे उसके गुणोंकी गरिमाको ग्रहण करना चाहिये। ऐसी व्यापक दृष्टि रखनेपर छोटी-से-छोटी वस्तुसे भी हमें पर्याप्त शिक्षा मिल सकती है।

समसामयिक परिवेशमें श्रीदत्तात्रेयसे सम्बन्धित निम्नलिखित कथा तो निश्चित रूपसे पर्याप्त उपदेशपरक और लोकहितकारिणी है :—

हैहयवंशमें कृतवीर्य नामक एक महाप्रतापी राजा हो चुके हैं। महिष्मती उनकी राजधानी थी। इस यदुवंशी परिवारमें अर्जुन कार्तवीर्यने जन्म लिया। पूर्वार्जित अशुभ कर्मोके परिणामस्वरूप उसे कुष्ठरोग हो गया और उसके दोनों हाथोंकी उँगुलियाँ गलकर गिर गयीं।

पिताकी मृत्युके अनन्तर इसी घृणित रोगके कारण उसे राज्यका उत्तराधिकार नहीं मिल सका, जिससे वह सदा सन्तप्त रहने लगा। राज्याधिकारको पुनः प्राप्त करनेकी अदम्य लालसासे वह रोगनिवृत्तिका उपाय करनेकेलिये निकल पड़ा। श्रीदत्तात्रेयके चमत्कारी प्रभाव की ख्याति उसने सुन रक्खी थी, इसलिये वह उन्हींके आश्रममें सह्याचल पर्वतपर पहुँचकर उनकी एकनिष्ठ आराधना और सेवार्चा करने लगा।

एक बार द्रवित भावसे उसने अपने अपंग हाथोंपर ही अगरतगरादि सुगन्धित द्रव्योंकी धूप दहकते अंगारोंके साथ रखकर श्रीदत्तात्रेयकी श्रीमूर्त्तिको आघ्रापितकी। धूमवान् धूपके साथ जब चमड़ेके जलनेकी दुर्गन्ध चारों ओर फैली तो श्रीदत्तात्रेयको अतीव आश्चर्य हुआ। उन्होंने कार्तवीर्य अर्जुनसे इस कठोर क्रियाका कारण पूछा, तो अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाकर उसने करुणार्द्र भावसे अपनी दयनीय स्थिति स्पष्टकी। करुणामय श्रीदत्तात्रेय उसके भक्ति-भावसे अत्यन्त प्रमुदित हुये और तत्काल सहस्रबाहु होनेका वर प्रदान करते हुये कहा, 'कार्तवीर्य ! हाथोंके प्रति तुम्हारा इतना मोह है, तो मैं तुम्हें सहस्र भुजाएँ देता हूँ। तुम पृथ्वीपर सार्वभौम राज्य करोगे। गौ, ब्राह्मण और स्त्री—इन तीनोंपर जबतक तुम्हारी अपार श्रद्धा रहेगी और इनपर तुम हाथ नहीं उठाओगे, तबतक तुम्हारी प्रतिष्ठा और राज्यसत्ताकी मर्यादा का कोई भी शक्ति हनन नहीं कर सकेगी।'

वर प्राप्त करके सहस्रार्जुन अपनी राजधानी महिष्मतीमें लौट आये और सुखपूर्वक राज्यवैभवका उपभोग करने लगे।

भाग्यकी गति अतिप्रबल होती है। एक बार मृगया खेलते हुये सहस्रार्जुन महर्षि जमदग्निके आश्रमकी ओर जा निकले। ग्रीष्मके आतपसे वह बहुत व्याकुल हो उठे थे। महर्षिने अपनी पत्नी रेणुकाके साथ अभ्यागत राजाका आदरातिथ्य किया और उन्हें यथेच्छ भोजनसे सन्तुष्ट किया। भोजनोपरान्त राजाने ऋषिसे अपनी एक शंकाका निराकरण चाहा। वे साश्चर्य बोले, 'ऋषे ! आपद्वारा प्रदत्त सुस्वादु भोजन ग्रहण करके हम कृतकृत्य हुये। लेकिन, आश्रमके इस निर्धूम वातावरणमें आप लोग इतनी जल्दी और इतनी भारी मात्रामें उत्तमोत्तम खाद्य-पदार्थोंको कैसे तैयार कर पाते हैं ? आपके यहाँ तो मुझे भोजन सामग्रीकी प्रचुरता भी दृष्टिगत नहीं होती !'

ऋषि हँस पड़े। फिर आश्रमके भीतरी भागकी ओर इंगित करके बोले, 'राजन्, वह देख रहे हैं न आप कामधेनुको। यह सब उसीका पुण्यप्रताप है, जो हम इस निर्जन काननमें भी इच्छित सामग्रियोंकी प्रचुर मात्रामें उपलब्धि कर पाते हैं। यह सुरभी हमें देवराज इन्द्रकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुयी है।'

लोभको पापका मूल और बुद्धिकी गतिको कर्मानुसारिणी माना गया है। कामधेनुकी उपयोगिताको देखकर राजा लोभके वशीभूत हो गया। उसने ऋषिसे कहा, 'यह धेनु तो हमारे लिये बहुत कल्याणकारिणी है। महर्षे ! आप आश्रममें केवल दो ही प्राणी हैं, इसलिये आपको इसकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं। इसे आप हमें प्रदान कर दें। क्योंकि मेरी बहुत बड़ी प्रजा है।'

राजाके इस प्रस्तावको सुन ऋषि बड़े धर्मसङ्कटमें पड़ गये। उन्होंने विनीत स्वरमें राजाको समझाया, 'लेकिन नृपते ! यह तो स्वर्गकी सुरभी देवता है, आपके साथ नहीं जायेगी; क्योंकि ऋषियोंके अतिरिक्त और कहीं भी रहना उसे अभिप्रेत नहीं। आप व्यर्थ ही आग्रह न करें।'

परन्तु राजा अपनी बातपर अड़ गया। शक्तिके अभिमानने उसे धर दबोचा। उसने ऋषिको स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया, 'यदि आप स्वेच्छासे कामधेनुको मेरे साथ नहीं भेजेंगे, तो उसे मैं बलपूर्वक ले जाऊँगा। मेरे साथ उसे जाना ही होगा। विचार लीजिये, ऋषे !'

ऋषिने फिर भी उसे सावधान किया, 'राजन् ! कामधेनु आपके साथ कदापि नहीं जायगी, व्यर्थ चेष्टा मत करो। यदि तुम शक्तिका प्रयोग करोगे, तो निश्चय ही अनिष्ट होगा। विवेकसे काम लो। लोभमें अंधे मत बनो।'

ऋषि जमदग्निके इस दृढ़ निश्चयको देख राजा कुपित हो उठा। क्रोधमें विवेकशक्ति कभी भी सन्तुलित नहीं रहती। वह कामधेनुकी ओर बढ़ा। कामधेनु शक्ति और सामर्थ्य-सम्पन्ना थी। उसने दूरसे ही राजाका निश्चय भांप लिया और स्वर्गकी ओर दौड़ पड़ी। यह देख राजा और भी अधिक व्याकुलोत्तेजित हो गया। शरसंधान करके उसने कामधेनुपर बाण छोड़ा। महर्षिने राजाके इस धर्मविरहित कर्मको देखा, तो कामधेनुकी रक्षाकेलिये स्वयं बाणके आड़े गये। उधर पति-परायणा रेणुका भी ऋषिकी रक्षार्थं दौड़ीं, परन्तु क्रोधपूर्वक छोड़ा गया सहस्रार्जुनका तीक्ष्ण बाण रेणुकाको घायल करता हुआ ऋषिको जा लगा और वे तत्काल धराशायी हो गये। पलभरमें हुआ यह सब !

कामधेनु तो राजाके हाथ भला क्या लगनी थी, इस घोर पातकके परिणामस्वरूप राजाका पुण्य अवश्य क्षीण हो गया। कामधेनुकी रक्षाकेलिये ब्रह्मर्षि जमदग्निने अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करके न केवल अपने कर्त्तव्यकर्मको पूर्ण किया, बल्कि यह भी सिद्ध कर दिखलाया कि एक सच्चा ब्राह्मण जीतेजी अपनी अक्षुण्ण परम्पराकी मर्यादाओंको किसी भाँति नहीं त्याग सकता।

जमदग्निके पुत्र परशुरामने आश्रममें आकर जब अपने पितरोंकी यह दुर्दशा देखी, तो उसके अन्तस्‌में प्रतिशोधकी ज्वाला धधकने लगी। रेणुका मरणासन्न थी। उसने परशुरामको

आज्ञा दी, 'वत्स, उस पापात्मासे हमारी हत्याका प्रतिकार लेनेसे पूर्व तुम हमारे शरीरोंको 'कोरी भूमिका' में भगवान् श्रीदत्तात्रेयके आचार्यत्वमें संस्कार-सम्पन्न कर दो।'

माताकी आज्ञा शिरोधार्य करके परशुरामने पितरोंकी देहका श्रीदत्तात्रेयद्वारा निर्दिष्ट सह्याचलकी कोरी भूमिमें अन्तिम संस्कार निष्पन्न किया। यह विधि पूर्ण करनेके बाद परशुराम अपना प्रतिशोध पूर्ण करनेके लिये महिष्मती पहुँचा। सहस्रार्जुनने ईश्वरीय आज्ञाका उल्लंघन किया था, इसलिये उसका पुण्य क्षय हो चुका था। वह परशुरामके आगे नहीं टिक सका और मारा गया।

श्रीवृन्दावन महिमामृत-सिन्धु

हे वृन्दावन एक मात्र हैं,
आप युगुल रतिके अवलंब।
अति आश्चर्य जनक स्वाभाविक,
परमानंद-रहस्य-कदम्ब।
ब्रह्मामृतके ही रहस्यका,
अकथनीय है अनुपम ज्ञान।
नेति नेति उपनिषद कह रहे,
कर न सके जिसकी पहिचान।
तव परमाद्भुत 'गौर श्यामके'—
क्रीड़ा-स्थलका शुचि दर्शन।
अति दुर्लभ है अवर्णनीय है,
श्रीवन- महिमाका वर्णन।
जो श्रीराधा-कृष्णचन्द्रकी,
छविसे रहता ओत प्रोत।
माधुर्यामृतके प्रवाहका,
जो है सुखप्रद सुन्दर श्रोत।
जो हरिके श्रृंगार मूर्त्तिकी,
शोभाका है सुथल अनूप।
रसिकोंका सर्वस्व सार जो,
जिसका है सौभाग्य स्वरूप।
ब्रह्मा, शिव, शेषादि देवगण,
जिसकी गुण-गरिमाका पार।
कभी न पाते—वह वृन्दावन
एक मात्र मेरा आधार।

[स्वामी श्री प्रबोधानन्द सरस्वती
रू० स्वामी मित्रानन्द 'मित्र']

"समष्टिकी दृष्टिसे प्रत्येक क्षण जो घटता है, वही भागवत विकास क्रमकेलिए सदा अत्यधिक अनुकूल होता है। भगवान्‌के साथ चेतनरूपसे युक्त सभी तत्त्वोंकेलिए भी यही सर्वश्रेष्ठ है। इसीसे पूर्ण एकत्व प्राप्त होगा।"

भागवत इच्छा

श्रीमाताजी, पांडिचेरी

भागवत इच्छाको जाननेकी चार शर्तें हैं :—

(१) पहली आवश्यक शर्त : पूर्ण सचाई।
(२) अपनी इच्छाओं और अभिरुचियोंपर विजय प्राप्त करना।
(३) मनको नीरव रखकर सुनना।
(४) ज्योंही ऊपरसे आदेश प्राप्त हो, तत्काल उसके अनुसार कार्य करना।

यदि तुम इसका लगातार अभ्यास करते रहोगे तो तुम भागवत इच्छाको अधिकाधिक स्पष्ट रूपमें जानने लगोगे। किंतु भागवत इच्छा क्या है, यह जाननेसे पहले भी तुम स्वयं अपनी इच्छाको उनके प्रति समर्पित कर सकते हो। तब तुम देखोगे कि सब परिस्थितियाँ ऐसी व्यवस्थित हो जायँगी कि जो तुम्हें करना है, वही तुम करोगे। तुम्हें उस व्यक्तिके समान नहीं होना चाहिये—यह व्यक्ति मेरा परिचित था—जो यह कहता था— "मैं भागवत इच्छाको दूसरेमें देखता हूँ।" यह बात, तुम्हें पता नहीं, कहाँ ले जाय? यह है भी बहुत अधिक संकटपूर्ण। कारण, यदि तुम भागवत इच्छाको दूसरोंमें देखते हो तो यह निश्चय है कि तुम उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करोगे, भगवान्‌की इच्छाके अनुसार नहीं। वहाँ भी, हम कह सकते हैं कि उनमेंसे एकाकी भी—एक मनुष्यकी भी इच्छा भागवत इच्छाके अनुरूप नहीं है।

तुम क्रुद्ध हाथी, महावत और उस व्यक्तिकी कथा जानते हो, जो हाथीको निकलनेका रास्ता नहीं देता था। बीच रास्तेमें बैठे उस व्यक्तिने महावतसे कहा—"भागवत इच्छा मेरे भीतर है और भागवत इच्छा यह चाहती है कि मैं यहाँसे नहीं हिलूँ।" महावत जो स्फुरित-मति था, बोला—"किन्तु हाथीके भीतर उपस्थित भागवत इच्छा चाहती है कि तुम यहाँसे हट जाओ।"

व्यक्तिमें भय क्यों होता है ?

मेरे विचारमें, इसलिये, क्योंकि वह अपने अहंमें केन्द्रित होता है।

इसके तीन कारण हैं—पहला, अपनी सुरक्षाकेलिये अत्यधिक चिंता; दूसरा जिस वस्तुको व्यक्ति नहीं जानता, वह सदा ही उसमें एक दुःखमय संवेदन उत्पन्न कर देती है, जो फिर चेतनामें भयका रूप धारण कर लेता है। सबसे बड़ा कारण यह है कि तुम्हें भगवान्में सहज विश्वास रखनेका अभ्यास नहीं है। यदि अधिक दूरतक जाया जाय तो यही कारण ठीक होता है। ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें यह भी नहीं ज्ञात है कि भगवान्का अस्तित्व है या नहीं; दूसरे शब्दोंमें, उन्हें हम यह कह सकते हैं, "तुम्हें अपनी भवितव्यतामें विश्वास नहीं है", या फिर "तुम भागवत कृपाके विषयमें कुछ नहीं जानते।" कुछ भी कह दो, जो चाहो कह दो, किन्तु मूल बात होती है विश्वासका अभाव। यदि तुममें सदा यह भावना रहे कि किन्हीं भी परिस्थितियोंमें जो कुछ भी है, वह ही अधिकसे अधिक भला होता है, तो तुम्हारे भीतर भय नहीं होगा।

भयकी पहली क्रिया अनायास ही आ जाती है। एक बड़ा विद्वान् था, जो एक बड़ा मनोवैज्ञानिक भी था (मुझे उसका नाम स्मरण नहीं)। उसने अपनी आंतरिक चेतनाको विकसित कर लिया था, किन्तु वह उसके प्रमाण चाहता था। तब उसने एक प्रयोग किया। वह यह देखना चाहता था कि चेतनाकी शक्तिके द्वारा क्या वह शरीरकी स्वतः चालित क्रियाओंपर नियंत्रण रख सकता है या नहीं. (कदाचित् वह अभी इस क्षेत्रमें इतनी दूरतक नहीं गया था कि वह ऐसा कर सके, क्योंकि ऐसा किया जा सकता है, जो भी हो, उसके लिये ऐसा करना तब सम्भव नहीं था।) वह वहाँके चिड़ियाघरमें गया और उस स्थलपर पहुंचा, जहाँ बड़े-बड़े शीशोंके पिंजरोंमें सांप रखे जाते थे। वहाँ एक बड़ा दुर्धर्ष विषधर भी था। जब वह सोता न होता तो प्रायः सदैव क्रोधित अवस्थामें पाया जाता। कारण, शीशेमेंसे वह लोगोंको देख सकता था और उससे वह बुरी तरह उत्तेजित हो उठता था। हमारा यह विद्वान् उसके पिंजरेके पास जाकर खड़ा हो गया। वह जानता था, पिंजरा ऐसा बना है कि साँप शीशेको तोड़कर बाहर नहीं आ सकता और उसे उसके आक्रमणका तनिक भी डर नहीं है। अतएव, उसने बाहरसे चीख-पुकार और संकेतोंके द्वारा उसे उकसाना आरम्भ किया। साँप क्रोधसे फुफकारकर शीशेपर आक्रमण करने लगा, किन्तु प्रत्येक समय जब वह शीशे पर प्रहार करता—विद्वान् अपनी आँखें बन्द कर लेता। वह अपने-आपसे कहता भी, "पर क्यों ? मैं यह जानता हूं, कि साँप शीशेको भेदकर बाहर नहीं आ सकता, फिर भी मैं अपनी आँखें बन्द क्यों कर लेता हूँ ?", हाँ तो, यह मानना पड़ेगा कि शरीरपर विजय पाना कठिन है। यह सुरक्षाकी भावना है, और यदि व्यक्तिको यह अनुभव हो कि वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता तो उसे भय लगने लगता है। किन्तु भयकी यह क्रिया जो आँखोंके झपकनेके रूपमें व्यक्त होती है, मानसिक भय है, न प्राणिक, यह शरीरके कोषाणुओंका भय है। इसका कारण यह है कि उन्हें यह सिखाया ही नहीं गया था कि भयकी कोई बात नहीं है और न ही वे भयका सामना करना जानते थे, क्योंकि उसने योगका अभ्यास नहीं किया था, ठीक बात है न ? योग के अभ्याससे व्यक्ति खुली आँखोंसे देख सकता है, तब वह अपनी आँखें बन्द नहीं करेगा। वह आँखें बन्द करेगा ही नहीं, क्योंकि उसने किसी और वस्तुका आवाहन किया है और यह "कोई और वस्तु" उसके भीतर भागवत उपस्थितिकी भावना है, जो सबसे अधिक शक्तिशाली है। केवल यही वस्तु तुम्हें भयसे मुक्त कर सकती है।

इस प्रवचनके कई वर्ष पश्चात् एक साधकने एतद्विषयसम्बन्धी निम्न प्रश्न पूछा था—

आप कहती हैं "यदि व्यक्तिकी सदा यह भावना बनी रहे कि सभी परिस्थितियोंमें जो कुछ होता है वही सर्वश्रेष्ठ है, तो उसके भीतर भय नहीं होगा।" क्या सचमुचमें सभी परिस्थितियोंमें सर्वश्रेष्ठ ही घटता है?

संसारकी किसी विशेष अवस्थामें यह सर्वश्रेष्ठ होता है—यह निरपेक्ष रूपमें सर्वश्रेष्ठ नहीं होता।

दो बातें हैं। प्रत्येक क्षण, सबके दिव्य लक्ष्यके लिये, यही एक पूर्ण और सर्वांगीण रूपमें यथासम्भव सर्वश्रेष्ठ होता है, और उसके लिये, जो भागवत इच्छाके साथ चेतन रूपमें जुड़ा हुआ है, यही उसकी अपनी दिव्य प्राप्तिकेलिये भी अत्यधिक अनुकूल है।

मेरे विचारमें यही इसकी यथार्थ व्याख्या है।

समष्टिकी दृष्टिसे प्रत्येक क्षण जो घटता है, वही भागवत विकासक्रमके लिये सदा अत्यधिक अनुकूल होता है। भगवान्‌के साथ चेतन रूपसे युक्त सभी तत्त्वोंकेलिये भी यही सर्वश्रेष्ठ है। इसीसे पूर्ण एकत्व प्राप्त होगा।

केवल एक बात नहीं भूलनी चाहिये कि यह सदा बदलता रहता है। यह स्थिर प्रकार का 'श्रेष्ठ' नहीं है। यदि इसे स्थिर रखा जाय तो यह एक क्षण पश्चात् ही सर्वश्रेष्ठ नहीं रहेगा। इसका कारण यह है कि मानवीय चेतना उस वस्तुको सदा सुरक्षित रखना चाहती है, जो उसे अच्छी लगती है या जिसे वह अच्छा समझती है, या जिसे वह अपनी पहुँचके बाहरकी वस्तु समझती है।

श्रीकृष्णके प्रिय संदेश

"हे गोपियो! तुम लोगोंका मेरे साथ वियोग कभी किसी स्थितिमें भी नहीं है, क्योंकि मैं सर्वात्मा हूँ!

जिस प्रकार चर अचर-प्राणियोंमें पंच महाभूत उन्हींके आश्रयमें स्थित हैं, उसी प्रकार मैं भी मन, प्राण, भूत, इन्द्रिय और गुणोंका आश्रय हूँ।

मैं अपने संकल्प मात्रसे अपनेमें अपनेसे अपनेको ही पंचमहाभूतादि रूपोंसे उत्पन्न करता हूँ, पालन करता हूँ और संहार भी करता हूँ। अर्थात् जीवात्माके रूपसे मैं सर्वत्र सर्वदा स्थित हूँ।

जीवात्मा तो शुद्ध है, प्राकृत गुणगत विकारादि दोष रहित है। गुण कार्योंसे अलग है, इसलिये कि वह ज्ञानस्वरूप है। प्रकृति परिणाम मनोवृत्तियों द्वारा विश्व (जाग्रत्), तैजस (स्वप्न) और प्राज्ञ (सुषुप्ति) रूपसे प्रतीत होता है, स्वतः नहीं। मैं देव हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं काना हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं भूखा हूँ, मैं दूर हूँ, मैं पास हूँ, इत्यादि प्रतीति भी देह इन्द्रिय अंतःकरणके अभ्याससे ही है, स्वतः नहीं!

जिस मनसे शब्दादि विषयोंका चिंतन करता है और जिससे देहेन्द्रियादि अभ्यास को प्राप्त किया है, उस अभ्यासकी निवृत्तिके लिये मनको रोकना चाहिये, अर्थात् उसे शब्दादि विषयोंसे परावृत्त कर वशमें करना चाहिये। जिस प्रकार जागा हुआ व्यक्ति मिथ्या भूत स्वप्नका ध्यान करने पर भी उसमें आसक्त नहीं होता, अपितु मनका निग्रह करता है, उसी प्रकार शब्दादि श्रवणादिकोंका इन्द्रिय धर्म होनेसे उससे उत्पन्न होनेवाले सुखादिकों का अंतःकरण धर्म होनेसे आत्माके साथ उसका कोई भी सम्बंध नहीं है, अतः उन विषयोंसे मनको रोकनेका अभ्यास करना चाहिये।"

"मैं तुम्हें जो कुछ दे रहा हूँ मैत्रेयी, भोगकेलिए दे रहा हूँ-जीवन-यापनके लिए दे रहा हूँ। जिस प्रकार जीवन नश्वर है मैत्रेयी, उसी प्रकार जीवनकी भोग-सामग्रियाँ भी नश्वरही होती हैं। भोग-सामग्रियोंसे अमरता नहीं प्राप्त होती मैत्रेयी !"

मैत्रेयीकी ज्ञान-तृषा

श्रीअर्जुनदेव शास्त्री

जीवनकी साँझ-वेला थी। शरीरकी इन्द्रियाँ कमलकी पंखड़ियोंकी भाँति सिकुड़ती जा रही थीं। केवल बाहरकी ही नहीं, भीतरकी इन्द्रियाँ भी शैथिल्यके पर्देमें मुँह छिपाती जा रही थीं। मन और प्राणोंके भीतरका रसभी जैसे सूखता-सा जा रहा था। महर्षि याज्ञवल्क्य प्रायः मौनही रहा करते थे। जीवनकी सांध्य वेलाने उन्हें अधिक 'उदास' कर दिया था और साथही अत्यन्त सकरुण भी। वे बड़ी ही चिन्ताके साथ, बड़ी ही करुणाके साथ जीवनके नश्वरताकी तरंगोंमें प्रायः डूबे ही रहा करते थे।

एक दिन उनकी चिन्तापूर्ण मुखाकृतिपर दृष्टि डालती हुई मैत्रेयी मृदु कण्ठसे पूछ बैठी, 'स्वामिन्, वह कौनसी चिन्ता है, जिसने आपके मुख-कमलको भी मलिन बना दिया है।'

याज्ञवल्क्यने व्यथा-पूर्ण स्वरमें उत्तर दिया—"जीवनकी नश्वरता मैत्रेयी ! जगत् और जीवनकी नश्वरताने मुझपर आक्रमण कर दिया है। मैं किस प्रकार इससे मुक्ति पाऊँ मैत्रेयी ! इच्छा होती है, कहीं चला जाऊँ, दूर-बहुत दूर !! वहाँ चला जाऊँ, जहां नश्वरता न हो, हो केवल चिर सत्य, चिर शान्ति।"

याज्ञवल्क्यके भीतरसे एक गहरी निश्वाससी निकल पड़ी। मैत्रेयीके हृदयमें दुःखकी लहरें उछल पड़ीं। वह आँखोंमें, चिन्ता भर कर कुछ देर तक याज्ञवल्क्यकी चिन्ता पूर्ण आकृतिकी ओर देखती रही, फिर अपने ही आप दुःखके साथ बोल उठी—"किन्तु इस आश्रम का-आश्रमके इस 'जीवन'का क्या होगा स्वामिन् !"

याज्ञवल्क्यने पुनः चिन्ताकी निःश्वास छोड़ते हुए उत्तर दिया—"आश्रमकी देख-रेख हारीत करेगा मैत्रेयी ! अब वह इस योग्य होगया है कि आश्रमका भार उसके कन्धेपर छोड़ा जा सकता है।"

मैत्रेयी मौन हो गई। कुछ क्षणों तक मनही मन सोचती रही, फिर अपने ही आप बोल उठी—"पर स्वामिन्, इस सम्बन्धमें बहन कात्यायनीसे भी परामर्श करना आवश्यक है।"

"हाँ मैत्रेयी!—तुम ठीक ही कह रही हो—याज्ञवल्क्यने कहा—कात्यायनीसे परामर्श करना आवश्यक है, बहुत आवश्यक है।"

और याज्ञवल्क्य उठ पड़े और आश्रमकी ओर चल पड़े। मैत्रेयीने भी उनका अनुसरण किया। कात्यायनी आश्रमके द्वारपरही मृगके शावकोंको घास खिला रही थी। महर्षिको देखते ही, ललककर चरणस्पर्श किया, और बैठनेके लिए कुशासन बिछा दिया।

महर्षि याज्ञवल्क्य कुशासनपर बैठ गए। उनके सामने ही उनकी दोनों पत्नियाँ मैत्रेयी और कात्यायनी भी बैठ गईं। महर्षि याज्ञवल्क्यने एकबार दोनोंकी ओर देखा और फिर चिन्तापूर्ण स्वरमें कहना प्रारम्भ किया—"मेरे जीवनकी सन्ध्या अब संन्निकट है देवियों। मैंने अब सन्यास लेनेका संकल्प किया है। मैं चाहता हूँ दूर चला जाना, बहुत दूर, किसी शान्ति लोकमें, चिर शान्ति लोकमें। पर जानेके पूर्व, जो कुछ है तुम दोनोंमें बाँट देना चाहता हूँ।"

'मैत्रेयी' और कात्यायनी—दोनोंमें से किसीने कुछ उत्तर न दिया। महर्षि याज्ञवल्क्य पुनः बोल उठे—"क्यों तुम दोनोंको क्या मेरी बात रुची नहीं?"

कात्यायनीने उत्तर दिया—"ऐसा क्यों सोचते हैं स्वामिन्! आपने जो निश्चय किया है, वह अवश्य 'उत्तम' ही होगा! आपका प्रत्येक निश्चय हमें शिरोधार्य है।"

पर मैत्रेयी 'मौन' ही रही। जब वह कुछ क्षणोंके पश्चात् भी मौन ही रही, तब याज्ञवल्क्यने उसकी आकृतिपर दृष्टि डालते हुए प्रश्न किया—"तुम क्यों मौन हो मैत्रेयी, तुम भी कुछ कहो।"

मैत्रेयीने करुण स्वरमें उत्तर दिया—"मैं क्या कहूँ स्वामिन्, आपने जीवनकी जिस सन्ध्यासे चिन्तित हो सन्यास लेनेका निश्चय किया है, उससे मैं चेतना-हतसी हो गई हूँ! आपके निश्चयने मेरी आत्मामें विप्लव उत्पन्न कर दिया है। मैं समझ नहीं पा रही हूँ स्वामिन्, आपके 'निश्चय' का अर्थ! फिर भी आपही बतायें, आप मुझे क्या देना चाहते हैं?"

महर्षिने मैत्रेयीकी ओर देखा, और देखते ही देखते कहा—"कामधेनुके सदृश यह गायें, यह भूमि, यह सम्पत्ति—इनमें से तुम्हें जो कुछ प्रिय हो, ले लो मैत्रेयी!"

मैत्रेयी विचारोंमें डूब गई। कुछ देर तक वह सोचती रही, मन ही मन सोचती रही, फिर विनीत स्वरमें बोल उठी—"एक प्रश्न है स्वामिन्, आप मुझे जो कुछ दे रहे हैं, उससे मुझे शान्ति-प्राप्ति होगी क्या, उससे मैं 'अमर' बन जाऊँगी क्या?"

महर्षि याज्ञवल्क्यके हृदयमें आनन्दकी लहरियाँ उछल पड़ीं, उनकी मुख-मुद्रा ज्योति से खिल पड़ी। वे मुसुकुरा उठे, और मैत्रेयीकी ओर देखते ही देखते बोल उठे—"मैं जो कुछ दे रहा हूँ मैत्रेयी, भोगकेलिए दे रहा हूँ, जीवन-यापनकेलिए दे रहा हूँ। जिस प्रकार जीवन 'नश्वर' है मैत्रेयी, उसी प्रकार जीवनकी भोग-सामग्रियाँभी नश्वर ही होती हैं! भोग-सामग्रियोंसे 'अमरता' नहीं प्राप्त होती मैत्रेयी!"

मैत्रेयी बोल उठी—"तो फिर मैं उन्हें लेकर क्या करूँगी देव! मुझे आपकी ये भोग-सामग्रियाँ न चाहिए। आप इन्हें बहन कात्यायनीको देदें।"

महर्षि विस्मित होकर मैत्रेयीकी ओर देखने लगे। मैत्रेयीकी आकृतिपर ज्योतिकी रेखायें-सी झिलमिला रही थीं। मैत्रेयीकी ओर देखते ही देखते गम्भीर स्वरमें बोल उठे—"तो क्या तुम्हें कुछ न चाहिए मैत्रेयी!"

मैत्रेयीने उत्तर दिया—"नहीं स्वामिन्, मुझे यह सब कुछ न चाहिए। जब इन भोग-सामग्रियोंमें 'शान्ति' नहीं, सुख नहीं, अमरता नहीं, तो मैं इन्हें लेकर क्या करूँगी? इनमेंसे कोई भी मुझे 'अमृततत्व' को प्राप्त करनेमें सहायता देगी क्या? मुझे केवल 'अमृततत्व' चाहिए स्वामिन्, केवल अमृततत्व। मैं इस 'नश्वर' जीवनमें समाविष्ट उस 'अमृतज्ञान' को प्राप्त करना चाहती हूँ स्वामिन्, जिससे मेरा मानव-पद सार्थक बन जाय।"

महर्षि आनन्दसे विभोर हो उठे, उनके लोम-लोमसे सुखका रस-सा टपकने लगा। वे आनन्द-मिश्रित स्वरमें बोल उठे—"तुम धन्य हो मैत्रेयी, तुम धन्य हो!! तुमने जीवनकी इस सन्ध्या वेलामें 'अमृततत्व' की बात चलाकर मेरे मन-मानसमें आनन्दके कमल ही कमल खिला दिए। मुझे गर्व है मैत्रेयी, तुम मेरी सहधर्मिणी हो। संसारके भोगोंको त्यागनेकी क्षमता साधारण जीवोंमें नहीं होती मैत्रेयी! तुम असाधारण हो—मैं तुम्हें उस 'अमृततत्व' का उपदेश अवश्य दूँगा, जो तुम्हारे मानव-पदको सार्थक कर देगा, उसे कृतार्थ बना देगा।"

मैत्रेयीका रोम-रोम आनन्दसे पुलकित हो उठा। उसकी आँखें 'आनन्द' और प्रेमके आँसुओंसे भर गईं। वह श्रद्धापूर्वक महर्षिके चरणोंपर लोट पड़ी। महर्षिने उसे स्नेहसे उठाते हुए कहा—"आकुल न हो मैत्रेयी, मैं तुम्हारी ज्ञान-तृषाको शान्त करूँगा, तुम्हें अवश्य 'अमृतरस' पिलाऊँगा।"

मैत्रेयी श्रद्धासे पुलककर महर्षिकी ओर देखने लगी।

महर्षि याज्ञवल्क्यने विमुग्ध कण्ठसे कहना प्रारम्भ किया—"मैत्रेयी, क्या तुम जानती हो कि स्त्रीको पति और पतिको उसकी पत्नी क्यों प्रिय होती है? साधारणतः लोग पति और पत्नीके प्रेममें 'कामना' को ही महत्व देते हैं। पर नहीं मैत्रेयी, पति और पत्नी कामना के कारण प्रेम नहीं करते, वे प्रेम करते हैं 'आत्म-कामना' के कारण। केवल पति और पत्नी ही नहीं मैत्रेयी, संसारके सम्पूर्ण जीव भी 'आत्म-कामना' ही के कारण परस्पर एक-दूसरेको प्रेम करते हैं। संसारके समस्त पदार्थ भी केवल 'आत्म-कामना'के ही कारण अत्यधिक प्रिय लगते हैं। संसारमें अपनी 'आत्मा' ही सबको अत्यधिक प्रिय होती है मैत्रेयी!"

मैत्रेयी विस्मित हो उठी, 'आत्म-कामना! आत्म-कामनासे क्या तात्पर्य है महर्षिका! कहीं आत्म-कामनासे तात्पर्य शरीरकी इन्द्रियोंकी इच्छासे तो नहीं है! पर शरीर तो नश्वर है।"—मैत्रेयी विस्मयपूर्ण स्वरमें बोल उठी—"आत्म-कामनाका क्या अर्थ है देव! वह 'आत्मा' क्या है, जो सबको अत्यधिक प्रिय होती है?"

याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"इस जगत्में चारों ओर 'आत्मा'का ही विस्तार है देवि! जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ, समस्त वस्तुएँ आत्मा ही के लिए हैं। आत्माही जगत्की रचनाका केन्द्र विन्दु है। पर देवि, आत्मा शरीर नहीं है। जो लोग शरीरको ही आत्मा मानकर

भोग-विलासमें व्यस्त रहते हैं, उनके हाथ कुछ नहीं लगता। वे अत्यन्त अज्ञानी हैं, जो यह समझते हैं कि मृत्युके पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता। मृत्युके पश्चात् भी 'आत्मा'का अस्तित्व विद्यमान रहता है देवि! आत्मा शाश्वत है, नित्य है, अमर है। आत्म-कामनाका अर्थ है, अपने 'नित्य' स्वरूपको पहचानना, उससे प्रेम करना। संसारके समस्त प्राणियोंके पारस्परिक प्रेममें 'आत्मा'के आत्म-स्वरूपको पहचाननेका ही तो भाव होता है।"

मैत्रेयी विचारोंमें डूब-सी गई। वह सोचने लगी, रह-रहकर सोचने लगी। उसने सोचते ही सोचते प्रश्न किया—"मैं तो समझ रही थी देव, यह जगत् 'ब्रह्म'का विस्तार है। पर आप उसे 'आत्मा'का विस्तार बता रहे हैं। क्या 'आत्मा' ब्रह्म-से कोई इतर वस्तु है?"

"नहीं मैत्रेयी, नहीं!'—महर्षि याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"आत्मा और 'ब्रह्म'में कोई भेद नहीं। 'आत्मा' स्वयं 'ब्रह्म' ही है मैत्रेयी! यह जगत् निःसन्देह ब्रह्ममय है, पर ब्रह्ममय होनेके कारण आत्मामय भी है। ब्रह्मकी सत्ता-परमात्माकी खोज तुम कहाँ करोगी मैत्रेयी? उत्तर है, आत्मामें। अतः मैत्रेयी, आत्मा ही सब कुछ है—आत्म-दर्शन ही अमृत तत्व है।"

मैत्रेयी गद्गद् हो उठी। उसे लगा, उसकी ज्ञान-तृषा मिट गई है और उसके प्राणोंमें अमृतका सागर छलक पड़ा है। वह संकल्प-विकल्पसे शून्य होकर साश्रुनयन महर्षिके चरणों पर झुक पड़ी। उसने जब मस्तक ऊपर उठाया तो उसकी आँखोंसे आनंदके आँसू झर रहे थे। उसने अवरुद्ध कण्ठसे कहा—"देव, आप सुखसे संन्यास ग्रहण करें। मैं आपके 'अमृततत्व' तरुकी छायामें वैठकर केवल आपके ही चरणोंका ध्यान करूँगी—केवल आपके ही चरणोंका।

महर्षि याज्ञवल्क्यभी परमानन्दमें डूब गए। उन्हें लगा, जैसे मैत्रेयीकी श्रद्धाने उनके कण्ठ और प्राणोंको जकड़ लिया हो।

ईश्वर और जीव

केवल आत्माको ही जानो, अन्य सभी निरर्थक बातोंको छोड़ो। संसारमें चारों ओर भटकनेके पश्चात् यही तथ्य हाथमें आता है।

जागो, उठो और जब तक लक्ष्यकी प्राप्ति न हो, रुको मत। यह सन्देश मानवको देना ही एक मात्र काम है।

धर्मका अर्थ केवल त्याग है, और कुछ नहीं।

ईश्वर व्यक्तियोंकी समष्टिका ही नाम है, फिर भी वह स्वयं भी एक व्यष्टि है। ठीक उसी प्रकार मानव-शरीर व्यक्तिगत कोषोंका समूह होते हुए भी अपने आप में एक इकाई है।

समष्टि ही ईश्वर है और व्यष्टि जीव। इसलिए ईश्वरका अस्तित्व जीवके अस्तित्व पर निर्भर है, जैसे शरीरका कोषपर और कोषका शरीरपर।

जीव और ईश्वरमें सह-अस्तित्व है। जब तक एक है, तब तक दूसरा भी होगा।

स्वामी विवेकानन्द

"देशमें विदेशी भाषाका, संस्कृतिका और वातावरणका सम्मान सहित प्रचार हुआ और उसी दिनसे भारतका बौद्धिक पतन होने लगा। उस तीन शतक पहले हुए पतन का अनुभव आज भी हमें पूरी तरहसे नहीं हुआ। हम अपने ही देशमें पराये हो गये, हमारे ही देशवासी हमारे लिए शासन और शोषणके विषय बन गए।"

शिक्षा, शिष्य और शिक्षक

श्रीगोविन्द शास्त्री एम० ए०

शिक्षाका व्यक्तिके जीवनके साथ अटूट सम्बन्ध रहा है। मनुष्यके जन्मके साथ ही शिक्षाका जन्म भी जुड़ा हुआ है और वह यावज्जीवन चलती रहती है। पुस्तकोंसे, आप्त जनों से, वातावरणसे, परिस्थितियोंसे और प्रकृतिसे व्यक्ति प्रतिपल कुछ सीखता रहता है। शिक्षाके उद्देश्य समाज और युग सापेक्ष रहते आये हैं। उद्देश्योंके अनुरूप शिक्षाकी पद्धतिका निर्धारण होता है। आजकी शिक्षा समाज, जाति किंवा देशकेलिये— कितनी उपादेय हो रही है, यही एक विचारणीय विषय है। आजका शिष्य वर्ग नेतृत्वका अर्थ विनाशवादी प्रवृत्तियोंमें समझ रहा है तो यह उसकी भूल है, या शिक्षा-पद्धतिमें कोई मूलभूत दोष है अथवा यह एक प्रतिक्रिया है। वास्तवमें यह एक राष्ट्रीय प्रश्न है, जिस पर प्रत्येक बुद्धिवादीको विचार करना है और इसका समाधान खोजना है।

एक युग था, जब विद्याका उद्देश्य विमुक्ति था। विमुक्ति अर्थात् संकीर्णतासे उदारताकी ओर बढ़ना और उदारता अर्थात् विश्वरूपता। उस शिक्षाका उद्देश्य भौतिक उपलब्धियाँ और चमत्कार नहीं था, था ब्रह्मज्ञान, स्वयंके अन्तर्निहित विराट्से साक्षात्कार। वेद उस शिक्षा क्रमका अनिवार्य विषय था। अध्यापकके आते ही पादवन्दन किया जाता था और अध्यापनके पश्चात् भी पादस्पर्श किया जाता था। गुरुको ब्रह्मा और विष्णुके समान आदरणीय समझा जाता या। विद्याका विक्रय नहीं होता था और न विद्याकी सार्थकता अर्थ या उपार्जन पर समाप्त होती थी। ज्ञान समाजका चक्षु था और शिक्षक जातिकी निधि। राज सत्ता भी उस गुरुके समक्ष नत हो जाती थी। राष्ट्रका कल्याण शिक्षकके पास रहता था, समाजकी नैतिकताको अम्लान रखनेका दायित्व शिक्षक पर था। इसीलिये यह पद केवल ब्राह्मणको दिया जाता था। ब्राह्मणकी व्युत्पत्ति ब्रह्माके सादृश्य परक थी। नये समाजका, सुखी विधान का सृजन ब्राह्मणके पास था। उस तपः पूत अवधूतको परिग्रहसे, सम्पदासे कोई मोह नहीं

था। जनपदसे दूर अपनी उपासनामें लीन शिक्षकके यहाँ जंगलमें ही मंगल हुआ करता था। द्रोणसे लेकर चाणक्य तक इस वृत्तिमें कोई अन्तर नहीं आया। शिष्यको पात्र बनाना और उसकी पात्रतापर सावधान दृष्टि रखना गुरुका पावन धर्म था। स्वयंके पुत्रसे भी प्रियतर होता था शिष्य। उस युगके विशाल विश्वविद्यालयोंमें गुरुका एकच्छत्र शासन होता था। सेना या सैनिक तो दूर, स्वयं सम्राट् भी विनीत होकर उन आश्रमोंमें प्रवेश करता था। समाजका निर्माण वहीं होता था। समाजधरोंको वहीं पर धर्म और नैतिकताकी, न्याय और निष्पक्षताकी, जाति और राष्ट्र हितकी शिक्षा दी जाती थी। विद्यार्थी चाटुकार और दब्बू नहीं होता था, स्वाभिमानी और कठोर कर्तव्यपरायण होता था। अनुशासन वहाँके वातावरणका प्रभाव था, जो स्वतः शिष्यकी प्रकृति बन जाता था। बाहरसे लादे जानेवाले अनुशासनकी तो कल्पना ही नहीं थी। शिष्यका शिक्षकमें विश्वास था और शिक्षक अपनेको उज्ज्वलतर भविष्यका निर्माता समझता था। आदर्शोंकी शिक्षा पुस्तकोंसे नहीं, शिक्षकके जीवनसे मिलती थी। धर्म और क्रिया में, विचारों और अन्वितिमें अन्तर नहीं था। समाजके वर्ग विभक्त होकर भी एक दूसरेमें अनुस्यूत थे, उच्च वर्ग केवल इसलिये उच्च होता था कि उसके पास ज्ञानकी निधि रहती थी। ब्राह्मण मुख तो था, किन्तु वह पैरोंका पोषण करता था, क्षत्रिय बाहु तो था, किन्तु वह समस्त राष्ट्र पुरुषकी रक्षा करता था और वैश्य उसके लिये जीवन दाता था। यही सत्य इस ऋचामें 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः उरूतदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत' स्पष्ट है। वर्णोंमें स्थानका ही भेद था, भावनात्मक विरोध या भेद नहीं था। आखिर राष्ट्र पुरुषकेलिये सभी अंग आवश्यक थे, सभी महत्त्वपूर्ण थे। यह युग था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रका। इसकी शिक्षाका उद्देश्य था ब्रह्मज्ञान, मुक्ति।

'सा विद्या या विमुक्तये'

युगने करवट बदली। धर्मका लक्षण निश्चित हुआ। स्मृतियोंने आचार-आशौचके रूप में समाज संहिताओंका निर्देश किया। शिष्यको समाजकी दण्डनीय प्रवृत्तियोंसे परिचित होना पड़ा, इसलिये कि वह ऐसी प्रवृत्तियोंसे दूर रहे, दूसरोंको भी दूर रहनेकी प्रेरणा दे। शिक्षाके गुरुकुल छोटे, बड़े और मध्यम रूपमें वर्गीकृत हुए। परिषद् जैसे विद्यालय हुए, जिनमें दस सदस्यीय कार्यकारिणीका गठन हुआ। वेदज्ञ, आश्रम (गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य) के प्रतिनिधि तथा अन्य विशेष विषयोंके निष्णात विद्वानोंका परामर्श मण्डल इस प्रकारके विद्यालयों की नीति निर्धारण करने लगा किन्तु इस युगने भी गुरु और शिष्यके बीचमें कोई वैधानिक अधिकार या कर्तव्योंका विभाजन नहीं किया। उसी श्रद्धासे अध्येता गुरु चरणोंका अर्चन करता और उसी आत्मीयतासे—निश्छल भावसे अध्यापक ज्ञान दान करता। एक देकर सन्तुष्ट होता, दूसरा लेकर कृतार्थ होता। यह थी भारतीय संस्कृति, यह था देशका आदर्श। इस युग में शर्म, वर्म, गुप्त जैसे वर्गोंका निर्माण हुआ। शर्म कहलाया ब्राह्मण, क्योंकि समाजका शर्म (कल्याण) अब भी इसी वर्गके हाथमें सुरक्षित था। दूसरा था वर्म—क्षत्रिय, जो राष्ट्रके लिये सुरक्षाके आवरणकी तरह था। शरीरकी विकृतियोंको बाहर करना तथा उसे बाह्य वातावरणसे सुरक्षित रखना, जिस तरह वर्मका (आवरण) कार्य होता है, उसी तरहका कार्य था क्षत्रियका। क्षत्रियका अर्थ इस युगमें व्यापक आशयमें लिया गया, क्योंकि क्षत्रिय केवल क्षतिसे ही बचाता है और वर्म तो विकृतियोंको दूर करनेका काम भी करता है। तीसरा था

गुप्त, जिसके पास समाजकी सम्पत्ति, राष्ट्रका वैभव गुप्त-प्रच्छन्न या रक्षित रहता था। इन नामोंसे अभिहित वर्गोंका समुदाय ही राष्ट्र-पुरुषकी सम्पूर्णताको सम्पादित करता था। इन सभी वर्गोंकेलिये शिक्षक आदरणीय था। उसके पास नीति निर्धारण था, उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। राज्यकी शक्ति उसके दिशा-निर्देश पर ही कार्य करती थी। इस युग तक भारतके पास अपनी मौलिकता थी, अपना अस्तित्व था। युग चाहे कुलीन तन्त्रका या एक तन्त्रका ही रहा हो, पर ज्ञान, श्रद्धासे प्राप्त होता था। 'विद्या ददाति विनयं' इस शिक्षाका मूल उद्देश्य था। शिक्षक आदरणीय था, वेतन भोगी कर्मचारी या सेवक नहीं था। इसी युगके अवशेष कबीरकी उक्ति—

'गुरु गोविंद दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविंद दियो बताय॥'

में प्रतिध्वनित हो रहे थे।

युग फिर बदला, विदेशियोंके आक्रमणसे नहीं, भारतकी अमूल्य पुस्तकोंके जलानेसे भी नहीं, वरन् विदेशी शिक्षा-पद्धतिके स्वीकार कर लेनेसे। देशमें विदेशी भाषाका, संस्कृतिका और वातावरणका सम्मान सहित प्रचार हुआ और उसी दिनसे भारतका बौद्धिक पतन होने लगा। उस तीन शतक पहले हुए पतनका अनुभव आजभी हमें पूरी तरहसे नहीं हुआ। हम अपने ही देशमें पराये हो गये, हमारे ही देशवासी हमारे लिये शासन और शोषणका विषय बन गये। इसी देशका सांस्कृतिक गौरव हमारे लिये अपरिचित हो गया। सामयिक प्रभावसे अक्षुण्ण नहीं रहा जा सकता और न लोक-व्यवहारकी उपेक्षा ही की जा सकती है, किन्तु शिक्षाकी संरचनाका हमने भारतीयकरण नहीं किया, उसे अपने सनातन मूल्योंके अनुरूप नहीं ढाला, यही हमारी गलती थी।

दूसरी गलती था असहयोग, सत्याग्रह और बहिष्कार करना। यद्यपि ये अस्त्र उस युगके लिये आवश्यक थे, किन्तु इनका प्रचार होना ही देशके लिये बड़ा हानिप्रद सिद्ध हुआ। सत्याग्रहमें देशके विद्यार्थीको घसीटना, असहयोगमें देशकी तरुण पीढ़ीका सक्रिय भाग लेना, बहिष्कारमें विदेशी शिक्षकोंका बहिष्कार होना ही आजके इन घेराव, हड़ताल और बन्द जैसे राष्ट्र-द्रोही आन्दोलनोंका अग्रदूत था। बाबा मर गया, इसका कोई अफसोस नहीं, अफसोस तो इसका है कि मौतने घर देख लिया, कल वह किसी औरको भी ले जायगी। शिक्षाको विरूपित कर दिया गया, शिष्यको पथभ्रष्ट कर दिया गया। मुझे अच्छी तरहसे याद है, जयपुर राज्यमें अध्यापकोंको वेतन नहीं, भेंट दी जाती थी। आज अध्यापक भी सामान्य वेतन भोगी कर्मचारी है और वह अपने अधिकारोंकेलिये चिल्लाता है, अपनी सुविधाओंकेलिये आन्दोलन की धमकी देता है। रजिस्टरमें उपस्थिति बनाकर अपनी तनख्वाहका अधिकार अर्जित करता रहता है। उस शिक्षकपर अधिकारी रहते हैं, जो शिक्षककी सुविधा और लाभपर नहीं, विचार करते, वरन् अपने अधिकार सम्पन्न पदका प्रदर्शन करते हैं। अपनेसे बड़ोंसे दबते हैं और अधीनस्थोंको डाटते हैं। इस राजनीतिने शिक्षाको पूर्णतः गन्दला दिया है। शिक्षक राष्ट्र-निर्माण को भूलकर अपनी आजीविकाको सम्हालनेमें व्यस्त है। उसकी मौलिकता कुण्ठित है, शिक्षा के क्षेत्रमें वह नये प्रयोग नहीं कर सकता। शिक्षणकी वे ही विधियाँ उसे अपनानी होती हैं, जो आयातित हैं। शिष्यके साथ उसका ग्राहक और दुकानदार जितनासा सम्बन्ध शेष रहा है, फिर

शिक्षक होनेकेलिये योग्यता या विषयकी मर्मज्ञता भी कोई मान दण्ड नहीं रहे। चरित्रहीन है, व्यक्तित्वमें कोई आकर्षण नहीं, राष्ट्रीय दायित्व जैसी चीज जिसके दिमागमें नहीं, वह भी अध्यापक है, तो अध्येताके मनपर वह किस विशेषताकी छाप छोड़ेगा? छात्रके साथ आत्मीयता रखनेसे अधिकारी रुष्ट होते हैं, व्यक्तिगत सेवाको अपराध समझा जाता है, दण्ड व्यवस्था जुर्म है तो फिर ऐसा कौनसा सूत्र है, जो इन दोनों सिरोंको जोड़े रहेगा ?

ज्यादा दिन नहीं हुए, (पन्द्रह बीस वर्ष पहले) जब मैं पढ़ता था, तो हड़ताल जैसी चीजकी कल्पना तक नहीं थी, गुरुकी सेवा करके कृतकृत्य हो जाते थे और रातके बाहर बजे तक जगकर हमारे गुरुजी पढ़ाया करते थे। हमारे कल्याणका सम्पूर्ण दायित्व गुरुपर समझा जाता था और यही एक कारण है कि आज भी यदि उनकी सेवा करनेका अवसर मिले मुझे तो अपार हर्ष है। उस शिक्षा-पद्धतिमें भी गुरु धर्म-पिता था, आराध्य था। वास्तवमें देशका नव निर्माण करनेके लिये गुरुको सम्मान देना होगा, शिष्यको समर्पित होना पड़ेगा, और शिक्षाको देशके प्राचीन मूल्योंके अनुरूप होना ही पड़ेगा।

भक्त-भावना

कृष्ण, कभी कुछ माँगू तुमसे ! —ऐसी है क्या चीज ?
हृदय-क्षेत्रोंमें बद्धमूल है सुदृढ़ भक्तिका बीज !
वहाँ नहीं उग पाते कोई तुच्छ भोगमय शस्य,
उग भी जायँ कदाचित् तो वे होते विफल अवश्य।

हाँ, प्रभु परक कामना-अंकुरकी अद्‌भुत है बात !
बढ़ने तथा फूलनेसे पहले होता फल प्राप्त !
निश्चय यहाँ जान पड़ता है नाथ ! तुम्हारा हाथ,
मानो छिपे छिपे तुम रहते सन्तत मेरे साथ !

पिता-गोदमें शिशु-सम रक्षित रहता हूँ मैं नित्य,
तेरे इङ्गित पर ही करता यथा साध्य कुछ कृत्य,
'तुम्हें मोद-प्रद मेरी चेष्टाएँ हों'—यही अभीष्ट,
अपने लिये न रह जावे कुछ जगमें इष्ट-अनिष्ट।

भोगूँ स्वकृत कर्मफल सुख-दुख, रहे तुम्हारा ध्यान;
भवमें ही निर्लिप्त रहूँ मैं जलमें जलज-समान,
आखें मुँदनेसे पहले यदि तुम हो जाओ व्यक्त,
तो कृतार्थ सब भाँति बने यह एक तुम्हारा भक्त !

श्रीनन्दकिशोर झा

"व्रज वह भाव-भूमि है, जहाँ प्रेम है, स्नेह है और वात्सल्य है। यमुना-सैकतमें आज भी भगवान् श्रीकृष्णका मुरलीनाद ध्वनित होता है, सेवाकुंजका मधुमय वातावरण आज भी रास रासेश्वर श्रीकृष्णकी भावभरी गाथा गाता हुआ गोपियों के प्रति उनके अनन्य प्रेमकी गवाही देता है।"

कहाँ सुख ब्रजकौ सौ संसार

श्रीराजेन्द्ररंजन एम० ए०

वास्तवमें राग-अनुरागमयी व्रजभूमि भक्तिका विस्तार-क्षेत्र एवं साहित्य-संगीतकी विकास-भूमि है। व्रजभूमिमें एक ऐसा अलौकिक आकर्षण और अद्भुत माधुर्य है कि हृदय सहसा इसकी ओर आकृष्ट हो जाता है। व्रजके कण-कणमें "श्रीकृष्ण"की रसमयी और कौतुकी क्रीड़ाएँ आज भी प्रतिबिम्बित होती हैं। यही कारण है कि भक्तजनोंने तार-स्वरमें यही उद्घोषणा की :—

सखिरी ब्रज को बसिबो नीको।
बछरा गाय चरावत बनमें कान्ह सबनमें टीको।
वृन्दावनमें होत कुलाहल गरजत सुर मुरलीको।
ठाड़े लाल कदमकी छैयाँ माँगत दान दही को।
उपजत है अति प्रीति उर अन्तर गावत जस हरिजी को।
'सूरदास' प्रभु मिलि हैं गिरिधर यह जीवन सबही को।

व्रज-रजके स्पर्श मात्रसे व्रजराजकुँवरके प्रति अनन्य प्रेम स्वतः जागृत हो जाता है। व्रजके निकुंजोंमें, गलियोंमें श्रीकृष्णके रंग-रँगे भक्तोंने इसीलिये तो निवासकी कामना प्रकट की :—

ऐसेंहि बसियै ब्रजकी बीथिन।
साधुनिके पनवारे चुनि चुनि उदरि जु भरियै सीतनि।
पेंड़े में के बसत बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुंज कुंज तर लोटि लोटि रचि रज लागै रंगीतनि।
निसदिन निरखि जसोदा नंदन अरु जमना जल पीतनि।
दरसन 'सूर' होत तन पावन दरसन मिलत अतीतनि।

व्रज वह भाव-भूमि है, जहाँ प्रेम है, स्नेह है और है वात्सल्य। यमुना सैकतमें आज भी भगवान् श्रीकृष्णका मुरलीनाद ध्वनित होता है, सेवाकुंजका मधुमय वातावरण आज भी रास-रसेश्वर श्रीकृष्णकी भाव भरी गाथा गाता हुआ, गोपियोंके प्रति उनके अनन्य प्रेमकी गवाही देता है। यही कारण है भक्तजनोंने व्रजके सुखको अद्वितीय माना है—

जो सुख व्रजमें एक घरी।
सो सुख तीन लोकमें नाहीं धनि यह घोष पुरी।
अष्ट सिद्धि नव निधि कर जोरे द्वारें रहति खरी।
सिव सनकादि सुकादि अगोचर ते अवतरे हरी।
धन्य धन्य बड़भागिनि जसुमति निगमनि सही परी।
ऐसें 'सूरदास' के प्रभुकों लीन्हों अंक भरी।

श्रीकृष्णको वनमें गाय चराते हुए देखकर जब विधाता स्वयं मोहित हो गये, तो उन्हें भी व्रजवासियोंके भाग्यकी भूरिशः सराहना करते हुए कहना पड़ा।—

व्रजबासी पटतर कोउ नाँहि।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न आवै इनकी जूठिन लै लै खाँहिं।
धन्य नंद धनि जननि जसोदा धन्य जहाँ अवतार कन्हाइ।
धन्य धन्य वृन्दावनके तरु जहँ बिहरत त्रिभुवनके राइ।
हलधर कहत छाक जेंवत सँग मीठें लगत सराहत जाइ।
'सूरदास' प्रभु बिस्वंभर हरि सों ग्वालिनके कौर अघाइ।

और जब ज्ञानिनाम् अग्रगण्य उद्धव व्रजमें योगका उपदेश देने आये तब उनकी भी ज्ञानकी गठरी—'डारमें तमालनिकी कछु बिरमानी अरु कछु अरुझानी है करीरनकी झारमें।' व्रजकी आनन्ददायिनी भाव भरी भक्ति, मधुर प्रेम और अनुपम वात्सल्य देखकर वे भी चकित रह गये और उन्हें भी कहना ही पड़ा :—

मैं व्रजबासिनकी बलिहारी।
जिनके संग सदा क्रीड़त हैं श्रीगोवरधन धारी।
किनहूँ कें घर माखन चोरत किनहूँकें सँगदानी।
किनहूँ कें सँग धेनु चरावत हरिकी अकथ कहानी।
किनहूँ कें सँग जमुनाके तट बंसी टेरि सुनावत।
'सूरदास' बलि बलि चरननि की यह सुख मोहि नित भावत।

क्योंकि वास्तवमें 'हरिरस'को व्रजवासियोंके सिवा और कौन जान सकता है ?

हरि रस तौ व्रजवासी जानें।
बदन सुधारस पियत मधुप ज्यों चरन कमल रुचि मानें।
ब्रह्मलोक सिवलोक नाँहि सुख निगम जु नेति बखानें।
सो रस गिरिवरधारीके सँग जिह्वा सेष कहानै।
नैन बिसाल स्यामसुंदरके खंजन भृकुटी तानें।
'सूरदास' प्रभु बलि सोभाकी मैन अवधि सकुचानें।

व्रजवासियोंके अनन्य 'रस-भाव' को देखकर उद्धवका ज्ञान-गौरव अनस्तित्व हो गया। वे 'अनुराग सौ रतन' लेकर, जब लौटकर श्रीकृष्णके समीप पहुँचे, तो वहाँ भी उन्होंने यही कहा—

कहत न बनै व्रजकी रीत।
कहा मो सठकों पठायो देखि उनकी प्रीत।
जुवति बल्लभ कत कहावत करत सकल अनीत।
मोहि तौ यह कठिन लागत क्यों करौं परतीत।
सुनौ धौं दै कान अपनी लोक लाकनि क्रीत।
'सूर' प्रभु अपनी सचाई रही निगमनि जीत।

व्रजके अद्‌भुत व्यवहारपर भी श्रीउद्धव मुग्ध होगयें थे। निम्नांकित पंक्तियोंमें उनकी मुग्धताका ही चित्र है—

माधौ जू सुनियै व्रज व्यवहार
मेरौ कह्यौ पवन कौ भुस भयौ गावत नंदकुमार।
एक ग्वाल गोसुत ह्वै रेंगत एक लकुट कर लेत।
एक मण्डली करि बैठारत छाक बाँटि इक देत।
एक ग्वाल नटवर वपु लीला एक कर्म गुन गावत।
बहुत भाँति करिमैं समुझायौ एक न उरमें आवत।
निस बासर यै ही ढँग सब व्रज दिन दिन नव तन प्रीत।
'सूर' सकल फीकौ लागत है देखत वह रस रीत।

गोपी-प्रेमके आगे उन्हें अपना योग-ज्ञान फीका लगने लगा। अपना स्वरूप भूलकर वे गोपियोंकी पग-धूलि होनेकी लालसा करने लगे। व्रजके दर्शनकर अपनेको धन्य समझने लगे—

माधौ जू मैं अति ही सचु पायौ।
अपनौ जानि सँदेस ब्याज करि व्रज जन मिलन पठायौ।
छमा करौ तौ करौं बीनती उनहिं देखि जो आयौं।
श्री मुख ग्यान पंथ जो उचर्‌यौ सो पै कछु न सुहायौ।
सकल निगम सिद्धांत जन्म क्रम स्यामा सहज सुनायौ।
नहिं स्त्रुति सेष महेस प्रजापति जो रस गोपिन गायौ।
कटुक कथा लागी मोहि मेरी वह रस सिंधु समायौ।
उत तुम देखे और भाँति मैं सकल तृषा जु बुझायौ।
तुम्हरी अकथ कथा तुम जानौं हम जन नाँहि बसायौ।
'सूर' स्यामसुन्दर यह सुनकैं नैननि नीर बहायौ।

व्रज तो वह परम पुनीत भूमि है, जहाँ अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नायक श्रीकृष्ण प्रेम-वश होकर 'छछिया भर छाछ' पर घर-घर नाचते फिरते थे। फिर उद्धवकी तो बात ही क्या? वे 'पुलकित तन' कहने लगें—"होतो चित चाव जो न रावरे चितावनिको, तजि व्रज गांव इतै पाँव धरते नहीं।"

वस्तुत: व्रज-भाव अलौकिक है, तभी तो द्वारकामें अनन्त सम्पदा होते हुए भी श्रीकृष्ण व्रजकी ममतामयी छवि न भुला सके। व्रजके लोगोंका स्नेह और "यशोदाके प्रेम पगे पालन और लाड़भरे लालन" की स्मृति उन्हें व्याकुल बना देती है। "प्यारो नाम गोविंद गुपाल" को छोड़कर त्रिलोकीनाथ और द्वारकाधीश आदि नाम उन्हें निस्सार प्रतीत होते हैं। वे उद्धवजीसे बार-बार यही तो कहते हैं :—

ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं
हंस सुताकी सुन्दर कगरी अरु तरुवन की छाँही।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाँही।
ग्वाल बाल मिलि करत कुलाहल नाचत गहि गहि बाँही।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवत वा सुख को जिय उमँगत तन नाहीं।
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन गहि यह कहि कहि पछताहीं।

भक्तजनोंके अनुसार 'व्रज' 'गोलोक धाम' है। व्रजमें भगवान् नित्य लीला-विहार करते हैं। देखिये—

ब्रह्म मैं ढूंढ्यो पुरानन गानन
वेद रिचा सुनि चौगुने चायन।
देख्यो सुन्यो कबहूं न कितै
वह कैसो सुरूप औ कैसो सुभायन।
टेरत हेरत हार परयो
रसखान बतायो न लोग लुगायन।
देख्यो दुरयो वह कुंज कुटीरमें
बैठ्यो पलोटत राधिका पायन।

वह निराकार, अच्छेद्य, अभेद्य, निर्गुण, परम तत्त्व ब्रह्म जिसे वेद भी अनादि, अनंत, अखण्ड कहकर 'नेति नेति' बताते हैं, उसी ब्रह्मका रसमय दर्शन रसखानने किया—व्रजकी कुंजोंमें, व्रजेश्वरीके पैरोंपर लुढ़कते हुए। धन्य है व्रज!

इसीलिये तो रसखानने जन्मजन्मान्तरोंमें भी 'व्रजका सानिद्धय' ही श्रीकृष्णसे माँगा—

मानुष हौं तो वही रसखान,
बसौं व्रज गोकुल गाँवके ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो,
चरौं नित नंदकी धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को,
जो धरयो कर छत्र पुरंदर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि—
कालिंदी कूल कदम्बकी डारन।

व्रज-भक्तोंको व्रजकी कटीली करील कुंजोंके समक्ष करोड़ों स्वर्ण मन्दिर और व्रज-रज के एक कणके सामने असंख्य चिन्तामणि भी हलकी प्रतीत होती हैं। छीतस्वमी आग्रहपूर्वक कहते हैं :—

एहो विधिना तोपै अँचरा पसारि माँगों,
जनमु जनमु दीजो याही व्रज बसिबौ।
अहीर की जात समीप नंद घर,
घरी घरी घनस्याम हेरि हेरि हँसिबौ।
दधिके दान मिस व्रजकी बीथिन में,
झकझोरनि अंग अंग को परसिबौ।
छीतस्वामि गिरिधरन श्रीबिट्ठल—
सरद रैन रस रासकौ बिलसिबौ।

कलिमल हरनी कालिन्दीका मृदुल स्वच्छ स्फटिक वालुकामय पुलिन, वृन्दावनका अनघ सौन्दर्य, गोवर्धनकी मनोहर छटा, व्रजके कुसुमित चम्पक, वकुल, कदम्ब, मल्लिकाकी सघन वीथीके आगे स्वर्गका महत्त्व तो कुछ है ही नहीं—वैकुण्ठ भी हलका है। व्रजकी प्रेममयी लीलाओंके आगे वैकुण्ठकी मर्यादा भक्तजनोंको अच्छी नहीं लगती। उन्हें चतुर्धा मुक्ति भी अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाती। वे तो व्रजके 'रिझवार' हैं—बस, व्रजके—

कहा करौं बैकुंठहिं जाइ।
जहँ नहिं नंद जहाँ न जसोदा जहाँ न गोप न गाइ।
जहाँ न जमना को निरमल जल नहिं कदम्ब की छांइ।
'परमानँद' प्रभु चतुर ग्वालिनी व्रज रज तज मेरी जाइ बलाइ।

व्रजकी रज और लता पता बन जाना भी उन्हें प्रिय है :—

व्रज की लता पता मोहि कीजै
गोपी पद पंकज पावन की रज जामें सिर दीजै।
आवत जात कुंज की गलियँन रूप सुधा नित पीजै।
श्री राधे राधे मुख यह वर 'हरीचंद' कों दीजै।

गोप बालाओंको बड़ा पश्चात्ताप है कि हाय हम व्रजकी रज क्यों न हुईं? क्योंकि व्रज-रज होनेसे नंद-नन्दनका स्पर्श सुख तो मिलता रहता—

हम न भईं बिन्दावन रेंनु
जिन चरनन डोलत नँद नंदन नित प्रति चारत धेंनु।
हम ते धन्य परम ये द्रुम बन बाल बच्छ अरु धेंनु।
'सूर' सकल खेलत हँसि बोलत ग्वालन सँग मथि पीवत धेंनु।

व्यास कवि भी व्रजवासके लिए बड़े आकुल हैं। उनकी भगवान्से प्रार्थना किसी अन्य वस्तुके लिए नहीं, केवल व्रजवासके ही लिए है। इतना ही नहीं, बेचारे व्रजवासियोंके जूठनपर सर्वस्व छोड़ देनेके लिए तैयार हैं—

ऐसो कब करि हो मन मेरो ।
कर करवा गुंजन के हरवा कुंजन माँहि बसेरो ।
व्रजवासिन टूक झूंठ अरु घर घर छाछ महेरो ।
भूख लगे तब माँगि खाय हों गिनों न साँझ सबेरो ।
इतनी आस 'व्यास' की पुजियै मेरो गाँव न खेरो ।

व्रजके अनूठे भक्तोंको व्रजमें ही सुख मिलता है—व्रजके आगे वे सामीप्य, सायुज्य, सार्ष्टि और सारूप्य—चारों मुक्तियोंको नीरस समझते हैं। वे अष्टसिद्धि और नवनिधि भी नहीं चाहते । वे तो बस व्रजवासियोंकी भावभरी गारी सुनना चाहते हैं—

हम सब सुखी व्रज के जीव ।
दास नागरि चहत नहिं सुख मुक्ति आदि अपार ।
सुनों व्रज बसि स्रमन में व्रजवासिनन को गार ।

वास्तवमें जो मधुर भाव व्रजमें है, वह हरिरससुख कहीं भी नहीं है। सूरके शब्दोंमें :—

कहाँ सुख व्रज को सो संसार
कहाँ सुखद बंसीवट जमना यह मन सदा विचार ।
कहँ बन धाम कहाँ राधा संग कहाँ संग व्रज बाम ।
कहँ रस रास बीच अंतर सुख कहाँ नारि तन ताम ।
कहाँ लता तरु तरु प्रति बूझनि कुंज कुंज नव धाम ।
कहाँ बिरह सुख बिन गोपिन संग सूर स्याम मन काम ।

पुराणोंमें व्रज

गोवृन्दकी वृद्धि चाहनेवाले अक्लिष्ट कर्मा भगवान् श्रीकृष्णने अपने मन में श्रीवृन्दावनका ध्यान किया ।

जहाँ तक व्रजकी सीमा तथा उसमें जो वन-उपवन, गिरि, नदी आदि हैं, उनका पूजन करो, यही हम लोगोंका एक मात्र कल्याणप्रद आश्रय है ।

[ब्रह्मपुराण]

ब्रह्मका परमैश्वर्य्य नित्य वृन्दावनके आश्रय है, अतः व्रजमें श्रीकृष्णका परमोत्तम धाम श्रीवृन्दावन है ।

इसीसे त्रैलोक्यमें व्रज-भूमि धन्य है, जिसमें श्री विष्णुका परम प्रिय माथुरमण्डल अवस्थित है ।

[पद्मपुराण]

मथुरा नगरी परमपुनीता तथा सम्पूर्ण पापोंके हरण करनेवाली है, जहाँ साक्षात् सनातन विष्णु जगन्नाथ अवतीर्ण हुए ।

सम्पूर्ण जगत-कमलके प्रकाशनार्थ देवकी रूपिणी पूर्व दिशासे श्रीकृष्ण-सूर्य उदय हुए ।

[विष्णु पुराण]

"यद्यपि अन्तर्यामी प्रभु प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान रहते हैं और सभी प्राणियोंके सुख-दुःखों, एवं आधि-व्याधि, आवश्यकता आदि समस्त परिस्थितियोंको जानते हैं तथापि आराधना-द्वारा माँग किये बिना किसीको कुछ योग देना उचित नहीं समझते।"

आराधना क्यों, और किसकी करें ?

श्रीव्रजवल्लभशरण वेदान्ताचार्य

भगवान् श्रीसर्वेश्वरके अचिन्त्य विचित्र विश्वमें जिधर जिस किसी भी प्राणीकी ओर दृष्टिपात किया जाय, उसमें कुछ न कुछ अपूर्णता दिखाई देगी। अपनी अपनी अपूर्णता और आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिए सभी प्राणी प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। सभी प्राणी जिसे अपनेसे अधिक सम्पन्न, शक्तिमान एवं विशेष विज्ञ समझते हैं, उससे सम्पर्क स्थापित करते हैं और उसके समक्ष अपनी अपूर्णता, दीनता आदि व्यक्त करते हैं तथा वाणीसे उसकी प्रशंसा और शरीरसे सेवा करके अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिकेलिए उससे सहयोग चाहते हैं। लोकमें ऐसी स्थिति प्रत्यक्ष देखी जाती है।

प्रार्थित व्यक्ति यदि सज्जन होता है तो प्रार्थीको सान्त्वना और यथाशक्ति सहयोगभी देता है। यदि दुर्जन हुआ तो प्रार्थीकी प्रार्थनाको सुनी अनसुनी कर देता है। क्रूर व्यक्ति तो गुर्राता है और धमकाकर प्रार्थीका तिरस्कार करता है तथा उसे अपने सामनेसे भी दूर कर देता है। प्रार्थी दूसरेकी शरणमें जाता है। वहाँसे भी जब निराशा होती है तब तीसरेकी खोज करता है। मनुष्योंसे जब आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं होतीं, तब वह देवताओंकी आराधनामें संलग्न होता है। जब किसी ओरसे कुछ नहीं होता, तब दैवात् किसी परोपकारी सन्त, महात्मा तथा आचार्यकी शरण ग्रहण करता है। वे जब उसे करुणावरुणालय, शरणागत प्रतिपाल, दीनदयालु, कृपालु प्रभुसे परिचित कराते हैं, दीक्षा देकर आराधनाकी पद्धति बताते हैं, तब वह श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी आराधनामें संलग्न होता है। वहीं उसकी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है। फिर वह अपूर्ण जीव अपनेमें पूर्णताका अनुभव करता है। आराधना इसीलिए की जाती है।

"यद्यपि अन्तर्यामी प्रभु प्रत्येक प्राणीके हृदयमें विराजमान रहते हैं और वे सभी प्राणियोंके सुख-दुःखों एवं आधिव्याधि, आवश्यकता, आदि समस्त परिस्थितियोंको जानते हैं, तथापि आराधना-द्वारा माँग किए बिना किसीको कुछ योग देना उचित नहीं समझते,"— यह वेदों, पुराणों और शास्त्रोंसे ज्ञात होता है। अर्जुनने जब तक "शिष्यस्तेऽहंशाधि मां त्वां प्रपन्नम्" माँग नहीं की, तब तक भगवान् श्यामसुन्दरने उसे कुछ भी परामर्श एवं पथ-प्रदर्शन नहीं दिया। यही बात ब्रह्माजीके सम्बन्धमें सुनी जातीहै। जब ब्रह्माजी अपनी

उलझनोंको नहीं सुलझा सके, तब उन्होंने प्रभुकी आराधनाकी। परिणामस्वरूप प्रभुने उन्हें स्थूल और सूक्ष्म आराधनाकी दो पद्धतियाँ बताईं। उनके उपयोग पर ही ब्रह्माजीकी जटिल समस्याएं सुलझ सकीं। उन्हीं पद्धतियोंको श्रीशुकदेवजीने राजा परीक्षितको बताई थीं। उन्होंने राजा परीक्षितको यह भी विश्वास दिलाया था कि आराधना-पद्धतिके समान अन्य और कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है।

महाराज उत्तानपादके आत्मज भक्तवर श्रीध्रुवजीको, उनकी माता महाराणी सुनीति ने भी यही उपदेश दिया था—'हे पुत्र! तुम अपने मनमें किसी भी प्रकारका क्षोभ मत करो। तुम्हारी विमाताने जो कुछ कहा है, वह सत्य है। यदि तुम उत्तमकुमार (सुरुचिके पुत्र) के समान उच्चासन (राज्यासन) पर बैठना चाहते हो तो प्रभुकी आराधना करो।'

माताकी आज्ञानुसार पञ्चवर्षीय बालक ध्रुव राजभवनसे निकलकर वनको चल पड़े। दैवयोगसे मार्गमें श्रीनारदजी मिल गये। नारदजीने ध्रुवको बहुत कुछ समझाया-बुझाया, किन्तु ध्रुवजी अपने विचारपर दृढ़ रहे। ध्रुवजीकी दृढ़ताको देखकर श्रीनारदजी बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने महाराणी सुनीति द्वारा उपदेशित भगवदाराधनारूप उपायकी प्रशंसा करते हुए कहा—"हे वत्स? तुम्हारा उसी उपायसे कल्याण होगा, जिसे तुम्हारी माताने तुम्हें बताया है। भक्तवत्सल प्रभु अपने शरणागतोंका सभी प्रकारसे कल्याण करते हैं। उनके चरणोंमें अपना चित्त लगाकर तुम उनकी आराधना करो।"

"तुम्हारा अभीष्टपूर्ण हो"—श्रीनारदजीने आशीर्वादके साथ-साथ ध्रुवजीको मन्त्रोपदेश भी किया। ध्रुवजीने श्रीनारदजीकी आज्ञानुसार मथुरापुरी पहुँचकर कालिन्दीके तटपर अपना आसन जमा दिया। उन्होंने पाँच मास तक तीव्र तपश्चर्याके साथ प्रभुकी आराधना की।

छठा महीना लगा तो चारों ओरसे मनको हटाकर केवल प्रभुके चरणोंमें ही तन्मय होगए। उस समय उन्हें प्रभुके चरणोंके अतिरिक्त और कुछ दिखाई ही नहीं देता था। जब एक पैरके अँगूठेके बलपर स्थित ध्रुवजी आराधनाके शिखरपर जा पहुँचे तब पृथ्वी नावकी भाँति डगमगाने लगी। समस्त प्राणियोंका श्वास अवरुद्ध होने लगा। लोकपालोंने आकुल होकर प्रभुकी प्रार्थनाकी। प्रभु सबको सान्त्वना देकर ध्रुवजीके सम्मुख प्रकट हुए। ध्रुवजीने प्रभु-दर्शनसे कृतार्थ होकर प्रभुकी स्तुतिकी। प्रभुने सन्तुष्ट होकर उनके अभीष्टकी पूर्तिकी। ध्रुवजीके अभीष्टकी पूर्ति प्रभु-आराधनासे ही हुई। अतः प्रत्येक प्राणीको सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, श्रीसर्वेश्वरकी ही आराधना करनी चाहिए।

भगवदाराधनाके कई प्रभेद हैं। संक्षेपमें सकाम और निष्काम तथा सगुण, निर्गुण दो भेदोंको ही आराधनाके मुख्य भेद कहा गया है। इनमें सकाम (सगुण) के सात्विकी, राजसी, तामसी आदि गुण-कामनाओं और आराध्यदेवों आदिके प्रभेदोंके अनुसार कई प्रभेद होजाते हैं। भिन्न-भिन्न कामनाओंकी पूर्तिकेलिए भिन्न-भिन्न आराध्य बतलाये गये हैं। जैसे—ब्रह्मतेजकी वृद्धिकेलिए बृहस्पति, इन्द्रियोंकी प्रबलताकेलिए इन्द्र, सन्तानके लिए प्रजापति धनकेलिए लक्ष्मी, एवं वसु, तेज वृद्धिकेलिए अग्नि, पराक्रमकेलिए रुद्र, अन्नकेलिए अदिति, स्वर्ग प्राप्तिकेलिए देव, राज्यकेलिए वैश्वदेव, व्यापार वृद्धिकेलिए साध्यदेव, आयुवृद्धिकेलिए अश्विनीकुमार, पुष्टिकेलिए इलादेवी, प्रतिष्ठाकेलिए लोक मातायें, सौन्दर्य्यकेलिए गन्धर्व, स्त्री प्राप्तिकेलिए उर्वशी, आधिपत्यकेलिए परमेष्ठिदेव, यशकेलिए यज्ञेश, कोश (खजाना) वृद्धिकेलिए वरुण, विद्या (ज्ञान)केलिए शंकर, सौभाग्य

के लिए पार्वती, धर्म और अर्थकेलिए उत्तम श्लोक प्रभु, वंशवृद्धिकेलिए पितर, सुरक्षार्थं यक्ष (कुवेरादि), राज्यकेलिए मनु, शत्रुवधार्थं निर्ऋति, और काम (तृतीय पुरुषार्थं)केलिए चन्द्र आदि आराधनीय हैं। आरोग्य प्राप्तिकेलिए सूर्यदेवकी, धन-प्राप्तिकेलिए अग्निकी, विज्ञान प्राप्तिकेलिए शंकरकी और मुक्तिकेलिए जनार्दन-श्यामसुन्दर युगलकिशोर श्रीराधा-सर्वेश्वरकी ही आराधना करनी चाहिए। बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह सकाम या निष्काम-किसी भावसे मुक्तिकेलिए अनन्यतापूर्वक प्रभुकी ही आराधना करे।

भगवान्की आराधना करनेसे अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वशित्व—अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इन सिद्धियोंके अनुसार देहकी स्वस्थता, दूरसे देखना, सुनना, मनके समान वेग होना, इच्छानुसार रूप बनालेना, दूसरोंमें प्रविष्ट होजाना, चाहें जब तक जीवित रहना, देवोंके साथ क्रीड़ा करना, संकल्पके अनुसार तत्काल कार्य होजाना, सबको अपनी आज्ञाके वशमें करना, इच्छानुसार इष्ट स्थानमें पहुँचना, भूत, भविष्यत्, वर्तमान् तीनों कालोंकी घटनाओंको प्रत्यक्ष देख लेना, शीतघामादि द्वन्द्वोंसे व्यथित न होना, दूसरोंके मनके गुप्त भावोंको जान लेना, अग्नि, सूर्य, जल, विष आदिके प्रबल वेगोंको भी रोकदेना, और किसीसे भी पराजित न होना इत्यादि गुण भगवदाराधकमें स्वत: समाविष्ट होजाते हैं। किन्तु आराधकको अपने इन गुणोंसे मोह नहीं करना चाहिए। क्योंकि ये गुण आराधनाके विकासमें बाधक होते हैं।

जो साधक जिस आराध्यकी भक्तिपूर्वक आराधना करता है, उसकी अचल श्रद्धाको भगवान् उसीमें बढ़ाते रहते हैं। उसी देवके द्वारा साधकको अभीष्टफल भी दिला देते हैं, किन्तु वे सभी देव और उनके द्वारा प्राप्त फल अनित्य हैं। अत: विज्ञ साधक सर्वाराध्य श्रीसर्वेश्वर प्रभुकी ही आराधनामें संलग्न होता है।

साधन (अपरा) और साध्य (परा) रूप-दोनों ही प्रकारकी भगवत् आराधना कल्याणकारी है। भगवान्के नाम, रूप, लीला एवं गुणों—दयालुता, सर्वशरणत्व, भक्त-वत्सलता आदिको सुननेसे उनके चरण-कमलोंमें अनुराग होता है। साधक उनके गुणोंका कीर्तन, स्मरण तथा अर्चना, वन्दना आदि क्रमश: करने लगता है। यह नवधाभक्ति साधन रूपा मानी जाती है। जब प्रभुकी अनवरत अटूट स्मृति रहने लगती है, तब उसे साध्य परा-प्रेम तथा फल रूपा भक्ति कहते हैं। उसका मुक्तिसे भी बढ़कर महत्व माना गया है। अत: प्रभुके अनुरागी भक्त भगवान्के देनेपर भी मुक्तिकी उपेक्षा करके प्रेमरूपा परा भक्तिकी ही आकांक्षा करते हैं।

वस्तुत: मुक्तिके स्वरूप और लक्षणोंमें बड़े-बड़े दार्शनिक आचार्योंमें भी मतभेद है। श्रीहरि व्यासदेवाचार्यने उन सभीका समन्वय करके मुक्तिको पराभक्तिके ही अन्तर्गत सिद्ध किया है। यह उनकी केवल कल्पना नहीं, परम्परागत सिद्धान्तका भी अनुसरण है। भगवान् श्रीआद्यनिम्बार्काचार्यके दीक्षागुरु, श्रीनारदजीका भी यही अभिमत है। उन्होंने स्वरचित भक्ति सूत्रों द्वारा इसे स्पष्ट कर दिया है और इस सिद्धान्तको परम्परागत बताया है।

यह प्रेम भक्ति रसरूपा है। अत: रसवेत्ता आचार्योंने शान्त, दास्य, वात्सल्य, सख्य उज्ज्वल-(श्रृङ्गार मधुर) पाँच रस माने हैं। आराधक पाँच रसोंमेंसे अपनी रुचिके अनुसार किसी भी रसकी परिपाटीसे प्रभुकी उपासना करे। उसका कल्याणही होगा। रसास्वादन की दृष्टिसे उसमें मधुर रसका स्थान विशिष्ट माना जाता है।

लोक कल्याण परिवेशमें 'यज्ञ' का विवेकपूर्ण विवेचन

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा,
पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष ,
वोऽस्त्विष्ट काम धुक् ॥"

आनन्द-पयस्विनी—कामधेनु

श्रीव्रजविहारी 'अनघ'

मानवकी सृष्टि करनेके साथ ही साथ प्रजापतिने यज्ञकी भी रचनाकी और कहा, "यह लो, यही कामधेनु है । इसे अपने पास रखो, और जीवन यापन करो । यह तुम्हें तुम्हारी सभी मनोवांछित वस्तुएँ प्रदान करेंगी ।"

सचमुच 'यज्ञ' कामधेनु है । वह कामधेनु, जो सभी मनोवांछित वस्तुएँ प्रदान करती है । वेदसे लेकर आज तक जितने धार्मिक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है, सबमें 'यज्ञ' रूपी कामधेनु के महत्त्व और उसकी प्रशंसाके चित्र मिलते हैं । बड़े-बड़े आचार्यों, ऋषियों और धर्म-पण्डितों ने भी व्यक्तिको निजी, और समाजके कल्याणकेलिए 'यज्ञ' करनेकी सलाह दी है । प्रश्न होता है, 'यज्ञ' क्या है ? क्या प्रज्वलित अग्निमें 'घृत' के साथ अनाज और हवन-सामग्रियोंको मिलाकर डालना ही यज्ञ है ? क्या भगवान् श्रीकृष्णने अपनी गीतामें इसी यज्ञको कामधेनुकी संज्ञा दी है ? क्या इसी 'यज्ञ'की रचनासे मनुष्यको वह 'सुख' और 'आनन्द' प्राप्त हो सकता है, जिसके लिए वह समाकुल है ?

यदि हम बीते हुए दिनोंको छोड़ दें, केवल वर्तमान कालपर ही दृष्टि दौड़ाएँ, तो हम धर्म-संस्थानों, पूजागृहों, और व्यक्तिके निजी वास-स्थानोंमें ऐसे यज्ञोंको प्रायः होते हुए देखते हैं और उनके होनेकी चर्चाएँ भी सुनते हैं । पर आश्चर्य है कि फिर भी व्यक्तिके जीवन, और समाजके ऊपर छायी हुई आपदाकी काली-काली घटाएँ फटती हुई दृष्टिगोचर नहीं होतीं । फिर प्रश्न होता है, भगवान् श्रीकृष्णने जिस 'यज्ञ' को गीतामें 'कामधेनु' की संज्ञा दी है, उस 'यज्ञ' का क्या अर्थ है ?

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा प्रशंसित 'यज्ञ' के अर्थको समझनेके लिए हमें 'ईशावास्य' उपनिषद्के ऋषिके निम्नांकित वचनपर ध्यान देना होगा—"तेन त्यक्तेन भुंजीथा !" अर्थात् समस्त वस्तुएँ भगवान्की हैं। उन्हें देकर अथवा त्यागकर आनन्द प्राप्त करो ?' स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने भी, गीतामें ही कई स्थानोंपर "समर्पण" पर बल दिया है । इस 'समर्पण' और 'त्याग' का क्या अर्थ है ? भगवान्की दी हुई वस्तुओंको कोई भगवान्के 'समर्पण' करना चाहे, या उनका 'त्याग' करना चाहे, तो 'समर्पण' और 'त्याग' की उस क्रियाकी पूर्ति किस

प्रकारकी जा सकती है ? क्या किसी देवालयमें जाकर भगवान्की प्रतिमाके पास उन समस्त वस्तुओंको रख देना ही पर्याप्त होगा ?

भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रश्नका एक अकाट्य उत्तर अपने 'विराट' रूपके द्वारा प्रस्तुत किया है। भगवान् श्रीकृष्णने अपने विराट रूपके द्वारा यह उद्घोषित किया है कि समस्त विश्वके प्राणी उन्हींमें निवास करते हैं। इसी बातको हम इस रूपमें भी ले सकते हैं कि विश्व के समस्त प्राणियोंके भीतर भगवान् बसते हैं। हमारे उपनिषदों और दर्शन शास्त्रोंमें भी 'एकोऽहम् द्वितीयो नास्ति' की बात मिलती है। हिन्दीके महाकवि और प्रवर संत गोस्वामी तुलसीदासजीने "सिया राम मय सब जग जानी" कहकर इस बातको और भी अधिक सरल और स्पष्ट बना दिया है। फिर तो कहना पड़ेगा कि अब 'त्याग' और 'समर्पण' का अर्थ भी अधिक सरल और स्पष्ट हो गया है। भगवान् श्रीकृष्णने जिस 'त्याग' और 'समर्पण' पर बल दिया है, वह है वह 'त्याग' और 'समर्पण', जो समस्त प्राणियोंके कल्याणकी दृष्टिसे किया जाता है। क्योंकि विश्वके समस्त प्राणी भगवान्में ही निवास करते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें इसी 'त्याग' को 'यज्ञ' की संज्ञा दी है। जिसके पास जितना हो, उसे उसके अनुसार ही 'व्यक्ति' और 'समाज' के कल्याणकेलिए 'त्याग' और समर्पण करते रहना चाहिए। इसी 'त्याग' और 'समर्पण' में इस पंक्तिका सच्चा अर्थ छिपा हुआ है—"हे गोविन्द, मैं तुम्हारी दी हुई वस्तुको तुम्हें ही समर्पित कर रहा हूँ।" यही वास्तविक श्रीकृष्ण-आत्मार्पण है। इसी त्यागको—यज्ञको भगवान् श्रीकृष्णने 'कामधेनु' की भी संज्ञा दी है। यह वही कामधेनु है, जो मनुष्यको मनवांछित फल प्रदान करती है, जो सब प्रकारका'सुख' 'आनन्द' प्रदान करती है। प्रश्न हो सकता है कि दूसरोंके सुख और कल्याणकेलिए अपनी वस्तुओंका त्याग करने से 'सुख' और आनन्द कैसे प्राप्त हो सकता है ? यदि हम भगवान् श्रीकृष्णके बताए हुए मार्गपर चलते हैं, तो हमें यह जानना चाहिए कि जिन्हें हम 'दूसरा' समझ रहे हैं, वे अपने ही एक रूप हैं। श्रीकृष्ण हममें भी हैं और उनमें भी हैं। फिर हम और वे पृथक् कैसे हुए ? जब हम और वे पृथक् नहीं हैं, तो फिर क्या उनका 'आनन्द' और 'सुख' हमारा 'आनन्द' और 'सुख' नहीं ? हमारे 'त्याग' और 'समर्पण'से उन्हें जो 'सुख' और 'आनन्द' प्राप्त होगा, वह 'सुख' और 'आनन्द' हमारा ही अपना' सुख' और आनन्द तो होगा।

यदि हम लौकिकताकी दृष्टिसे भी देखें, तो 'त्याग' और समर्पण' से ही हम सबको वह 'सुख' और 'आनन्द' प्राप्त हो सकता है, जिसके लिए हम-सब समाकुल हैं। किसी एक कुटुम्ब या समाजको ले लीजिए। यदि उस 'कुटुम्ब' या समाजके सभी प्राणी एक-दूसरेके कल्याणकेलिये 'त्याग' और 'समर्पण' करनेको उद्यत हो जायँ, तो क्या यह सच नहीं है कि उस 'कुटुम्ब' और 'समाज'में रहनेवाले सभी मनुष्योंको समान रूपसे 'सुख' और 'आनन्द' प्राप्त होगा ? इसी प्रकार किसी भी राष्ट्रके भीतर भी जितनी ही अधिक 'त्याग' और 'समर्पण' की भावना का प्रसार होगा, वह राष्ट्र उतना ही अधिक सुखी और आनन्दमय होगा। भगवान् श्रीकृष्णने इसी 'त्याग' ओर समर्पण'के मार्गपर चलनेकेलिए निर्देशित किया है। यही वास्तविक यज्ञ है, यही आनन्द-पयस्विनी कामधेनु है।

आइए हम सब भगवान् श्रीकृष्ण-द्वारा निर्देशित 'त्याग-यज्ञ' का व्रत ग्रहण करें और आनन्द-पयस्विनी कामधेनुसे वरदान-प्राप्त करके वास्तविक अर्थोंमें जीवन व्यतीत करें।

हमारा 'एक दिन' हमारी जीवन-पुस्तकका एक सुन्दर पृष्ठ है

"हमारे एक दिनके कार्योंकी छाप हमारे संपूर्ण जीवनपर पड़ती है। हमारे एक दिनके कार्योंके परिणामस्वरूप कभी-कभी हमारा जीवन उषाके आलोककी भाँति मुसकुरा उठता है और कभी-कभी उसीके परिणामस्वरूप जीवनकी तरु-लता शुष्क डंठलके समान 'रसहीन' भी बन जाती है।"

हमारा एक दिन

संकलित

हमारे जीवनका 'एक दिन' बड़ा महत्वपूर्ण होता है। यह 'सत्य' है कि हम अपने 'एक दिन' को उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं, और उसे बहुत ही तुच्छ समझते हैं, पर इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है कि हमारे 'एक दिन' के कार्यों की छाप हमारे सम्पूर्ण जीवन पर पड़ती है। हमारे 'एक दिन' के कार्योंके परिणामस्वरूप कभी-कभी हमारा जीवन उषाके आलोककी भाँति मुसकुरा उठता है, और कभी-कभी उसीके परिणामस्वरूप जीवनकी तरु-लता शुष्क डंठलके समान 'रसहीन' भी बन जाती है। यही कारण है कि विश्वमें जो बड़े-बड़े मनीषी, दार्शनिक और आचार्य हुए हैं, उन्होंने सदा अपने 'एक दिन' के महत्वको बड़ी श्रद्धाके साथ ग्रहण किया है। आदिगुरु शंकराचार्यने कभी अपने 'एक दिन' को व्यर्थ न जाने दिया। उन्होंने निरन्तर अपने 'एक दिन' का उपयोग गुरु ज्ञान अर्जन और पवित्र तपाचरणमें किया; परिणामस्वरूप वे आदिगुरु शंकराचार्यजीके नामसे जगत्‌में प्रसिद्ध हुए, और आज भी बड़ी श्रद्धाके साथ समादृत किए जाते हैं। जो लोग अपने 'एक दिन' के महत्यको समझते हैं, और उसका उपयोग यथोचित ढंगसे करते हैं, वे आदिगुरु शंकराचार्यजीकी भाँति ही जीवनके सर्वोच्च शिखरपर पहुँचनेका सौभाग्य प्राप्त करते हैं।

जीवनके 'एक दिन' का उपयोग किस प्रकार करें, कि जीवन खरा सोना बन जाय, इसके लिए नीचे एक शब्द-चित्र उपस्थित किया जा रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह शब्द-चित्र ही 'पूर्ण' और 'यथेष्ट' है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि यदि हम अपने 'एक दिन' के लिए इस 'शब्द-चित्र' को आधार मानकर चलेंगे, तो उससे हमारे जीवनकी मंजिल हमारे निकट अवश्य आ जायगी। वह चित्र इस प्रकार है :—

"प्रातःकाल शीघ्र नींदका परित्याग कीजिए। जब आपकी आँखें खुलें, तो विस्तरमें अर्द्ध निद्रा और अर्द्ध विचारोंमें डूबते-उतराते पड़े मत रहिए। उठ बैठिए, और प्रार्थना

कीजिए—"हे जगदीश, हम सबका जीवन आध्यात्मिक विचारों, और उन्नतियोंसे ओतप्रोत हो। जो सत्यके मार्ग पर चल रहे हैं, उन्हें आप शक्ति प्रदान करें। उन पर आप ऐसी कृपा करें कि वे वासनाओंके दास न बन सकें।" अपने गुरुकी उस अवस्थाका ध्यान कीजिए, जब वे समाधिस्थ होकर बैठे हुए हों। उनके उस रूपके सम्मुख श्रद्धापूर्वक 'दंडवत् प्रणाम' कीजिए, और विनयपूर्वक यह याचना कीजिए कि वे आपके अपराधों और आपकी त्रुटियोंको क्षमा कर दें।"

प्रातःकालकी इस प्रार्थनासे मनके भीतर पवित्रताका संचार होगा। कार्य क्षेत्रमें उतरने पर जो भी आचरण और व्यवहार-चित्र बनेंगे, उनपर उस पवित्रताकी छाप होगी, जिसका परिणाम अपने ही लिए नहीं, दूसरोंकेलिए भी बड़ा सुखद और बड़ा मधुर होगा।

'प्रार्थना' के पश्चात् ही एक और मन्त्र जपिए। यद्यपि यह 'प्रार्थना' नहीं है, किन्तु प्रार्थनासे कम 'पवित्र' और कम 'प्रभावपूर्ण' नहीं है। वह मन्त्र इस प्रकार है—"अपने आचरणकी निर्बलताओंपर मन ही मन विचार कीजिए। अपनी त्रुटियों और मनकी बुराइयोंका मनन कीजिए। साथ ही दृढ़ संकल्प कीजिए कि अब आप उनसे मुक्त होकर रहेंगे।" यह एक विश्लेषण है, खरी आलोचना है, जो आपके ही द्वारा आपके मनकी—आपके चरित्रकी होगी। निश्चय, इस दैनिक आलोचनासे आपके मनमें, अपने बुरे आचरणोंके प्रति निन्दाका भाव जागृत होगा और उन्हें सचमुच आप छोड़ करके ही रहेंगे।

स्नान और व्यायामके समय अपने आंतरिक जीवनपर भी दृष्टि दौड़ाइए। बाह्य स्नान और व्यायामसे जिस प्रकार आपका शरीर स्वच्छ और सुडौल बन रहा है, उसी प्रकार यह सोचिए कि आप अपने स्नानके द्वारा अपने भीतर अशुद्धियोंका भी परित्याग कर रहे हैं, और 'व्यायाम' के द्वारा आपकी मनःशक्ति भी दृढ़ और बलवान बन रही है।

'भोजन' के सम्बन्धमें भी मनन और चिन्तन परमावश्यक है। भोजन करनेकेलिए जब बैठिए, तो उतना ही भोजन कीजिए, जितना आपके लिए परमावश्यक हो। भोजन करते समय अपनी इस इच्छा-शक्तिको जागृत रखिए कि आप जो भोजन कर रहे हैं, वह आपके शरीरमें रक्तके रूपमें परिवर्तित होकर आपके आध्यात्मिक विचारोंकी उन्नतिका साधन बने। अच्छेसे अच्छे स्वादिष्ट, और मधुर भोज्य पदार्थोंको भी, भोजनके रूपमें ग्रहण करते हुए अपनी आवश्यकताका ध्यान रखिए। कभी भूल करके भी ऐसा भोजन ग्रहण न कीजिए, जो शत्रुकी भाँति आपपर बुरा प्रभाव डाले और आपके विचारोंको दूषित बना दे। स्मरण रखिए, जो भोजन आप कर रहे हैं, उसका 'स्वाद' एक क्षण पहले नहीं था और एक क्षण पश्चात् भी उसका 'स्वाद' न रहेगा। भोजनका जो 'स्वाद' आपको प्राप्त हो रहा है, वह तो आपकी जीभका स्वाद है। फिर ऐसे 'स्वाद' के जालमें फँसकर क्या आपको, अपनेको नष्ट करना प्रिय लगेगा?

दैनिक कार्यों और व्यवहारोंकेलिए आपको अपनी संहिता बड़ी सतर्कताके साथ बनानी चाहिए। आप जो 'संहिता' बनाएँगे, उसके लिए भी हम एक 'आधार' प्रस्तुत कर रहे हैं—"कभी व्यर्थके कामोंमें न लगिए। जो करना है, केवल उसीको कीजिए और यह सोचकर कीजिए कि इसे करना है। यदि किसी नए कार्यका श्रीगणेश करना है, तो सर्व प्रथम उसके

औचित्य और अनौचित्य पर विचार कीजिए। यदि कार्य आवश्यक और सुखद हो तो कीजिए, अन्यथा छोड़ दीजिए। कार्य करते समय अधिक बात मत कीजिए। यों भी आप व्यर्थं वाद-विवादमें न फँसिए। उतने ही शब्दोंका उच्चारण कीजिए, जितने आवश्यक हों। मुखसे ऐसे ही शब्द निकालिए, जो मधुर होनेके साथ ही साथ प्रभावोत्पादक और आपके मनोभावोंको व्यक्त करनेमें सक्षम हों। आप जो भी कार्य करें, उन पर आपके विचारों और सिद्धान्तोंकी छाप हो। भय, प्रलोभन और आतंकसे आप कभी अपने विचारों और सिद्धान्तोंको न छोड़ें। आप जिसे अच्छा समझते हैं, उसे अवश्य करें, और उसके लिए सम्पूर्ण जगतसे संघर्ष करनेको उद्यत रहे।"

यह दैनिक संहिता आपको कठिन अवश्य लगेगी, पर यदि आप इसे बना लेंगे, और प्रार्थनाके साथ उसके साँचेमें अपने जीवनको ढालने लगेंगे, तो अवश्य वह 'अदृश्य शक्ति' आपको सहारा देगी, जिसके पास पहुँचनेके लिए आपने अपनी दैनिक संहिताका निर्माण किया है।

पढ़ने-पढ़ानेके सम्बन्धमें मी कुछ विचार-सूत्र बनाने होंगे—'अधिक मत पढ़िए, ध्यान से पढ़िए, और सद्‌विचार मूलक पढ़िए। जो कुछ पढ़िए, एकान्तमें बैठकर उस पर विचार कीजिए—मनन कीजिए, सद् विचारोंके साँचेमें अपने आचरणको ढालिए। अधिक पढ़ना श्रेयस्कर नहीं, श्रेयस्कर है पढ़े हुए सद् विचारोंके द्वारा आत्मनिर्माण करना। यदि आप पढ़ने-पढ़ानेके परिणामस्वरूप आत्मनिर्माण की दिशामें अग्रसर हो रहे हैं, तो सचमुच आप 'पढ़ते' हैं। आप स्वयं अपने भीतर प्रविष्ट होकर देखें कि आप पढ़ रहे हैं या नहीं, और पढ़ रहे हैं तो क्या पढ़ रहे हैं, किस प्रकार पढ़ रहे हैं ?'

सोनेके पूर्व आपको पुनः प्रार्थना करनी होगी। अपने जीवनके 'एक दिन' की पुस्तक आपने प्रार्थनाके साथ प्रारम्भकी थी, और प्रार्थनाके साथ ही उसे बन्द भी कीजिए। उसी प्रार्थनाको दुहराइए, प्रातःकाल जिसका उच्चारण आपने बड़ी श्रद्धाके साथ किया था। प्रार्थना के पश्चात् वह मंत्र भी जपना होगा, जिसे आत्म-विश्लेषणका मंत्र कहते हैं—"अपने दिनभरके कार्योंका सिंहावलोकन कीजिए। देखिए, आपसे कहाँ-कहाँ त्रुटियाँ हुई हैं, कहाँ-कहाँ आपके विचारोंमें फिसलन पैदा हुई है, और कहाँ-कहाँ आपके द्वारा उन हृदयोंको चोट लगी है, जिनमें वासुदेवका निवास है। दोनों हाथ जोड़कर श्रीकृष्णका स्मरण कीजिए और उनसे अपनी भूलोंके लिए क्षमा माँगिए। भगवान् श्रीकृष्ण क्षमाके अवतार और दयाके सिन्धु हैं। वे अवश्य आपको क्षमा करेंगे, और साथ ही अपनी कृपाका दान भी देंगे।"

यही है हमारा और आपका वह 'एक दिन', जो हमें और आपको अपने ध्येयके निकट पहुँचा सकता है। हम सब अपने ध्येयके निकट पहुँचनेकेलिए आकुलित रहते हैं। फिर क्यों न अपने 'एक दिन' को उसी रूपमें ग्रहण करें, जिसकी चर्चा ऊपर की गई है। ग्रहण करनेकेलिए भी आइए वासुदेवको पुकारें—'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे, हे नाथ नारायण वासुदेव।"

"श्रीकृष्ण-जन्मस्थान आज भी अपने सुदिव्य अस्तित्वके रूपमें विद्यमान है। विद्यमान ही नहीं है, अपितु वह आज पुनः विशाल श्रीमद्भागवत भवनके रूपमें धरतीके ऊपर-आकाशकी ओर उठ रहा है।"

श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान कथा, लीला और समारोह

श्रीवंशीधर उपाध्याय

मथुराके सांस्कृतिक और धार्मिक इतिहासमें श्रीकृष्ण जन्मस्थानका अत्यधिक गौरव-पूर्ण स्थान है। यह सत्य है कि मथुराका अपना इतिहास अधिक प्राचीन है, चर्चित और वंदित है। पर उसके साथही यह भी सत्य है कि मथुराकी धरतीपर, श्रीकृष्ण भगवान्ने जन्म लेकर उसकी पावनताको और भी अधिक पावन तथा उसकी गौरवमयताको और भी अधिक गौरवपूर्ण बना दिया। वेदों, उपनिषदों और अन्य प्राचीन धर्म-ग्रन्थोंमें मथुराकी गरिमाके सम्बन्धमें चाहे जितने भी गौरवपूर्ण शब्द उपलब्ध होते हों, पर इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि विगत छः-सात सहस्र वर्षोंसे श्रीकृष्ण भगवान्का जन्म-स्थान ही उसके आकर्षणका ही नहीं, उसकी गौरवमयता और पावनताका कारण बना हुआ है। मथुरा चाहे जितनी भी पवित्र नगरी रही हो, पर उसके सौभाग्यका सूर्य तो उसी समय उदय हुआ, जब श्रीकृष्ण भगवान्ने उसकी धरतीपर जन्म लिया—उसके हाथ मांगलिक वलयसे उसी समय अलंकृत हुए, जब श्रीकृष्णभगवान्के पवित्र चरण उसके आँगनमें पड़े। तबसे लेकर आज तक कितने ही साधकों, भक्तों, ऋषियों, कवियों, आचार्यों और ग्रन्थकारोंके द्वारा मथुराकी गौरव-मयता और पावनताको लेकर स्तोत्रों, ग्रन्थों, नाटकों और काव्योंका निर्माण हुआ और हो रहा है, पर उस निर्माणके मूलमें श्रीकृष्ण भगवान्के पावन चरित्रकी ही गूंज है। वस्तुतः श्रीकृष्ण भगवान्ने मथुरामें जन्म लेकर युग-युगोंकेलिए उसके सौभाग्यको अचल बना दिया। मथुरा ही नहीं, समस्त व्रजका कीर्ति-वेणु भी, आज दिग्-दिगन्तमें श्रीकृष्ण भगवान्का जन्म और उनकी लीलाका स्थल होने ही के कारण, बजता हुआ सुनाई पड़ता है।

मथुराको ही यह श्रेय प्राप्त है कि उसकी धरतीपर उन त्रिलोकेश्वरके पहले-पहल पवित्र चरण पड़े थे, जिनके ज्योतिर्मय स्वरूपको बड़े-बड़े योगीगण भी ज्ञानकी दृष्टिसे देखनेके लिए अखण्ड समाधियाँ लगाया करते हैं ;और जिनकी स्तुति-गानके पथपर, कुछ पग आगे बढ़कर, वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों तकने 'नेति-नेति' कहकर अपना साहस छोड़ दिया है।

उन्ही त्रिलोकेश्वरका—-उन्हीं साकार और निराकारसे परे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका जन्म-स्थान मथुरामें है। इतिहाससे पता चलता है कि सर्वप्रथम भगवान् श्रीकृष्णके प्रपौत्र श्रीवज्रनाभ ने श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानको, श्रीकेशवदेवके मन्दिरके रूपमें, एक अविस्मरणीय मूर्त-स्वरूप प्रदान किया था। तबसे लेकर आजतक कई वार श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान मानवी हाथोंसे सँवारा और बिगाड़ा गया। विदेशियोंने एक नहीं कई वार, ईर्षामें मदान्ध होकर श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानकी रेखाको मिटानेका अथक प्रयत्न किया। अन्तिम वार क्रूर औरंगजेबने, श्रीकेशवदेवके विशाल मन्दिरके ऊपर ईदगाह बनाकर उसके सौष्ठव और उसकी अक्षय पावनताको मिटानेका भरसक प्रयत्न किया, जो आज भी उस ईदगाहके शेपांशके रूपमें उसकीही क्रूरताका उपहास कर रहा है। पर क्या ईर्षा और अधर्मियोंकी वे कोप-ज्वालायें श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान की रेखाको मिटा सकीं? नहीं, श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान आज भी अपने सुदिव्य अस्तित्वके रूपमें विद्यमान है। विद्यमान ही नहीं, अपितु वह आज पुनः विशाल श्रीमद्भागवत-भवनके रूपमें धरतीके ऊपर-आकाशकी ओर उठ रहा है। भगवान् श्रीकृष्णके पाद-पद्मोंपर श्रद्धा-सुमन अर्पित करनेवाले ५० कोटि हिन्दू जब तक इस धरतीपर विद्यमान रहेंगे, श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान की यश-पताका इसी प्रकार आकाशकी ओर—ऊपर उठती रहेगी, उठती रहेगी।

हम उन्हें ऋषि तुल्यही मानते हैं, जो समय-समयपर श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानको सँवारते और उसे दिव्य रूप देते आ रहे हैं। वे भी अत्यधिक वन्दनीय हैं, जो अपने पौरुषसे उपार्जित सम्पदाका उपयोग श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानके निर्माण और नव निर्माणमें समय-समयपर करते रहे हैं। इस दृष्टिसे स्वर्गीय सेठ जुगलकिशोर विरला और सम्मान्य सेठ श्रीजयदयालजी डालमिया कोटि-कोटि हिन्दुओंके श्रद्धा-भाजन हैं, जो आज श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके नव निर्माणमें पुनः नए सिरेसे योग प्रदान कर रहे हैं। विशाल श्रीमद्भागवत-भवन, जो श्रीकृष्ण जन्म-स्थानकी धरतीपर अपने दिव्यभालको ऊँचा करता जा रहा है, इन्हीं नर-रत्नोंकी धर्म-प्रियता, सुरुचि और श्रद्धाका परिणाम है। वह दिन दूर नहीं, जब उनकी धर्म-प्रियता, सुरुचि और श्रद्धा एक महान् पवित्र आकारके रूपमें परिणत हो उठेगी और कोटि-कोटि हिन्दुओंके पवित्र कण्ठ-स्वरों और श्रद्धा-पुष्पोंसे सुपूजित होकर हिन्दू धर्म और संस्कृतिके गौरव तथा गर्वका सुदृढ़ स्तम्भ बनेगी।

श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान जबसे अपने श्रद्धालुओं और प्रेमियोंके द्वारा अभिसारित होकर नए रूपमें प्रकट हुआ है, आये दिन समारोहों, उत्सवों और प्रेरणाप्रद धार्मिक आयोजनोंका केन्द्र बना ही रहा करता है। विगत तीन मासोंको—भाद्रपद, आश्विन और कार्तिकमासको यदि हम श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके समारोहोंका मास कहें, तो अत्युक्ति न होगी। भाद्रपदमासमें श्रीकृष्ण जन्मअष्टमीके उत्सवोंकी धूम थी। इसी मासमें श्रीमद्भागवत सप्ताह-कथाकी आयोजना और श्रीकृष्णलीला भी हुई। आश्विनमें विजयोत्सवकी धूम दर्शकोंके आकर्षणका मुख्य कारण थी। प्रतिदिन जन्म-स्थानके रंगमंचपर रामलीला होती थी, जिसे देखनेके लिए कई सहस्रों नर-नारी एकत्र होते थे। कार्तिकमासने तो अपनी पावनताके कारण, पिछले दोनों मासोंको भी पीछे छोड़ दिया। कार्तिकमासमें पुनः सप्ताह कथाका आयोजन हुआ और रंगमंचपर श्रीकृष्णलीला तथा चैतन्यलीला भी अभिनीत हुई। चैतन्यलीलाके कथानक-चित्रोंने, पात्रोंके द्वारा श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानपर भक्ति और प्रेमका सागर-सा प्रवाहित कर

दिया। चैतन्यलीलाकी सफलता और उसकी रस-सिद्धताका श्रेय गोस्वामिपाद श्रीमन्माध्व गौडेश्वराचार्य पुरुषोत्तम महाराजजीको है। गोस्वामिपाद महाराज जिस परिश्रम, लगन, और मनोयोगसे चैतन्यलीलाको अभिनीत करानेमें जुट रहे, वह प्रशंसनीय ही नहीं, अति प्रशंसनीय है। मथुराके सम्भ्रान्त नागरिक श्रीसत्यपाल, श्रीदाऊदयाल, श्रीफूलचन्द, श्रीवाबूलाल, श्रीहरिशंकर और श्रीरूपकिशोर आदि भी अधिक श्लाघनीय हैं, जो लीलाको सफल वनानेमें अपने श्रम और समयको देकर अपनी त्याग प्रवृत्तिका परिचय देते रहे। चैतन्यलीला हुई और खूब हुई। श्रीकृष्ण-जन्म-स्थानके रंगमंचके इतिहासमें वह सदा अविस्मरणीय रहेगी।

श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-कथा

श्रीकृष्ण जन्म-स्थानके रंग-मंचपर, विगत २३ अक्टूबरसे श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-कथाका आयोजन किया गया। यह आयोजन सम्मान्य सेठ श्रीजयदयाल डालमियाजीकी सुपुत्री श्रीमती उमादेवीकेजरीवालकी ओरसे किया गया था। श्रीमती उमादेवीकेजरीवाल मुख्य श्रोताभी थीं। उनके साथ उनके कुटुम्बके सभी लोग, जिनमें उनके पति श्रीकेजरीवाल और उनके भाई-वन्धु तथा अन्य कुटुम्बके लोग भी थे, कथा-श्रवण करते थे। स्वयं डालमियाजी और उनकी सहधर्मिणी भी कथा-रसास्वादन करतीं थीं। मथुराके नर-नारी तथा अन्य वाहरके सहस्रों लोग भी प्रतिदिन लाभउठाते थे। व्यास पीठपर वृन्दावनके मूर्द्धन्य विद्वान् पण्डित श्रीनाथजी महाराज थे। पण्डित श्रीनाथशास्त्री श्रीमद्भागवत-रसके महान् मर्मज्ञ हैं। उनकी वाणीमें प्रभाव और रस-सिक्तता है। श्रीमद्भागवतकी कथा यों ही रस-सिक्त और प्राणस्पर्शिनी है, श्री पंडित श्रीनाथशास्त्री महाराजने अपनी प्रभावमयी वाणीसे उसे और भी अधिक जनताके प्राणोंके निकट पहुँचा दिया। प्रायः प्रतिदिन ही एकत्र नर-नारी कथा सुनकर विभोर होजाया करते थे। सप्ताह-कथा अपने नियमके अनुसार सात दिन तक चलती रही। कथाका समापन भव्य समारोहके साथ हुआ, जिसमें कहना पड़ेगा कि स्वयं श्रद्धा, भक्ति, और प्रेम साकार हो उठा था।

श्रीमद्भागवतकी सप्ताह-कथामें, कथाके आधारपर कई पवित्र धार्मिक कृत्य और उत्सवभी हुए। भगवान् श्रीकृष्णके जन्मको लेकर अविस्मरणीय आनंदोत्सवकी आयोजनाकी गई थी। रंगमंचपर दधि-हल्दी मिश्रित रंगकी वर्षा तो हुई ही, फलों और नोटोंकी वर्षा भी की गई। होलिकोत्सवके उपलक्ष्यमें अबीर-गुलाल भी खूब वर्षा, गोवर्द्धनकी पूजामें तो मानो मुख्य श्रोताके हृदयकी श्रद्धाने साकाररूप धारण कर लिया था। कहना होगा कि इन समस्त उत्सवों और कृत्योंमें प्राण डालनेका काम गोस्वामिपाद श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजके ही द्वारा हुआ। श्रीमहाराज सप्ताह-कथाके दिनोंमें प्रतिदिन रंगमंचपर उपस्थित रहते थे और अपनी प्रभावमयी वाणीसे समय-समयपर रसका सागर उँडेला करते थे। उत्सवों, कृत्यों और आरती के समय तो वे स्वयं एक 'रस-सा' वन जाया करते थे, जो दर्शकों और श्रद्धालुओंको भी अपने आपमें डुबो देता था।

चैतन्यलीला

कार्तिक मासके कृष्णपक्षमें वृन्दावनके श्रीकुमरपालकी मण्डलीके द्वारा श्रीकृष्णलीला अभिनीत हुई, जो अपने ढंगकी एकही थी। शुक्लपक्ष आरम्भ होते ही उसी मण्डलीके

द्वारा चैतन्यलीला आरम्भ हो गई। चैतन्यलीला चैतन्यमहाप्रभुकी जीवन-कथाके प्रभावपूर्ण और सजीव घटना-चित्रोंके आधारपर संगठितकी गई थी। चैतन्यमहाप्रभुकी जीवन-कथा बड़ी प्रभावपूर्ण, कारुणिक और मर्मस्पर्शी है। अनेक भक्तों, साधकों और आचार्योंका विश्वास है कि श्रीचैतन्यमहाप्रभु श्रीकृष्ण भगवान्के अवतारके रूपमें प्रकट हुए थे। अतः विस्मयकी बात नहीं, यदि उनकी कथा प्राणोंमें पुलक उत्पन्न करे। जो लोग चैतन्यमहाप्रभुको अवतारके रूपमें नहीं मानते, वे भी उनके पाद्-पद्मों पर इस विचारसे श्रद्धांजलि तो अर्पित करते ही हैं कि उन्होंने धरतीपर जन्म लेकर भक्तिको एक नया रूप दिया—नाम संकीर्तन की गंगा बहाई। अतः कहना पड़ेगा कि चैतन्यमहाप्रभुकी जीवन-कथा भारतीय जनताके लिए अधिक पवित्र है। चैतन्यमहाप्रभुकी जीवन-कथासे, चैतन्य लीलाके लिए, जो कथांश चुने गए थे, वे बड़े मर्म-स्पर्शी और प्रभावपूर्ण थे। उन कथांशोंके चयन और उन्हें अभिनयका स्वरूप देनेका श्रेय गोस्वामिपाद श्रीपुरुषोत्तमजी महाराजको है। श्रीमहाराजके प्रयत्नों और सूझ-बूझसे चैतन्यमहाप्रभुकी जीवन-कथाके वे आध्यात्मिक और भक्तिपरक चित्र, रंगमंचपर वास्तविक रूपमें प्रकट किए गए, जिनके लिए श्रीचैतन्य-कथा अध्यात्मवादियों और भक्तोंके बीचमें अधिक सुपूजित और वंदित है। कथाकी सजीवताके साथ ही साथ पात्रोंके अभिनय और सम्वादमें स्वाभाविकता और प्रभावमयता थी। लीलाके कई स्थलोंपर दर्शकोंके प्राणोंको भी गलकर आँखोंकी राहसे निकलते हुए देखा गया। दर्शकोंका मौन और उनकी निष्पंदता क्षण-क्षणपर लीलाकी सफलताकी घोषणा करती थी।

शोभा-यात्रा

चैतन्यलीलाके ही उपलक्ष्यमें १४ नवम्बरको विशाल शोभा-यात्राका संगठन भी किया गया, जो चैतन्यमहाप्रभुके नगर-संकीर्त्तनके रूपमें था। शोभा यात्रामें चैतन्य महाप्रभुकी सुसज्जित सवारी, पुष्पोंके द्वारा सजायेगए एक कलात्मक यानपर निकाली गई। शोभा यात्रामें सुसज्जित हाथी और ऊँट भी थे। नगरमें स्थान-स्थानपर महाप्रभुकी आरती की गई और उनपर पुष्पोंकी वृष्टिकी गई। सम्पूर्ण परिक्रमा-पथ कीर्तनकारोंके स्वरों और वाद्योंके साथ ही साथ महाप्रभुकी जय घोषसे गूँजता रहा। शोभा यात्राका नेतृत्व भी गोस्वामिपाद श्रीपुरुषोत्तम महराजजीके द्वारा हुआ, जिनके साथ पीले वस्त्र धारण किए हुए नगरके सहस्रों संभ्रान्त नर-नारी थे, जो अपने भक्तिपूर्ण कीर्तनों और स्वरोंसे रह-रहकर दर्शकोंके ध्यानको अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। रात्रिमें प्रसाद वितरण हुआ, जिसमें सन्तों, भक्तोंके साथ ही साथ गृहस्थोंने भी भाग लिया।

चैतन्यलीलाका समापन श्रीकृष्ण लीलांतर्गत ऊधोलीलाके साथ हुआ, जो दर्शकोंको सदा स्मरण रहेगी।

श्रीकृष्ण जन्म-स्थानकी पवित्र धरती कथा, कीर्तन, लीला और पवित्र समारोहोंकी पवित्र भूमि है। आप जब भी मथुरा आयें, श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान पर अवश्य आयें। कौन जाने, आपके पुण्योंसे आपको भी कथा, कीर्तन, लीला और पवित्र समारोहोंमें भाग लेनेका सुअवसर प्राप्त हो जाय।
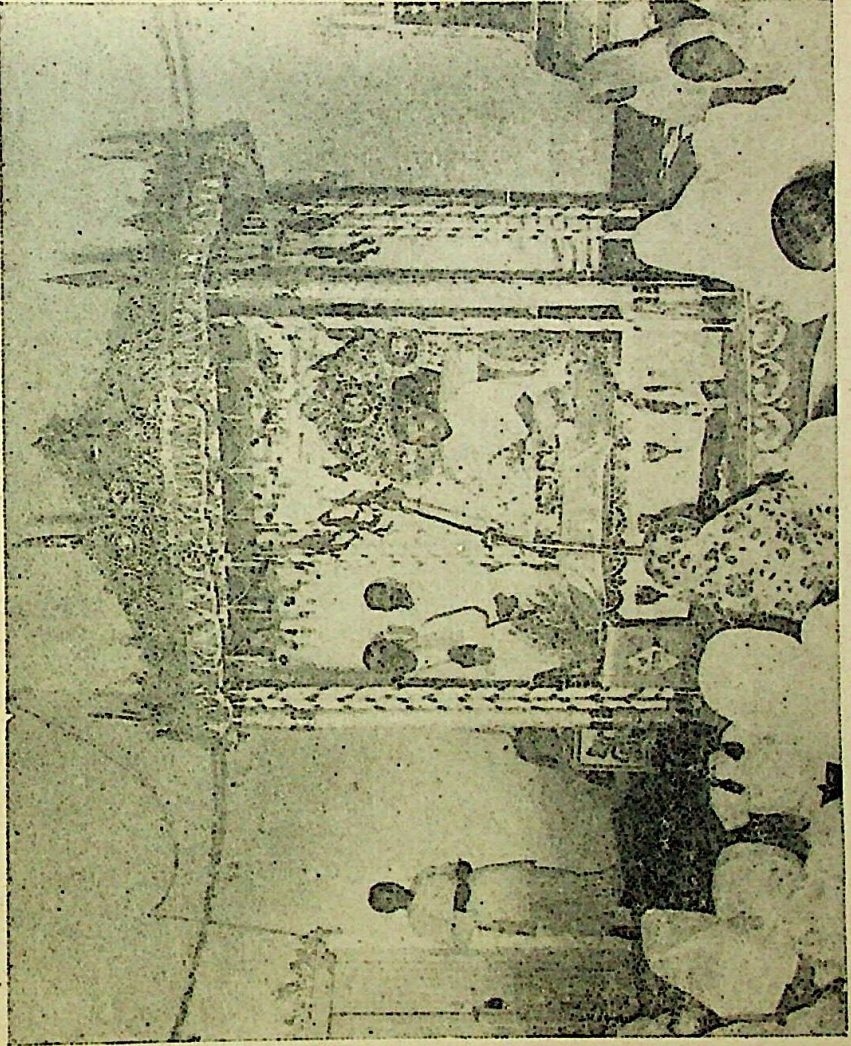
श्रीमद्भागवत-सप्ताह-कथाके व्यासपीठकी एक झाँकी

श्रीकृष्ण-सन्देश के कृपालु ग्राहकोंसे

सहयोगकी प्रार्थना

महानुभाव,

आपने "श्रीकृष्ण-सन्देश" को प्रारम्भसे ही जो प्यार प्रदान किया है, उसके लिये हम आपके बड़े आभारी हैं। निस्सन्देह आपकी स्नेह-शक्ति पाकर ही "श्रीकृष्ण-सन्देश" अपने जीवनके दो वर्ष पूरे करने, तीसरे वर्षमें मासिक रूपसे प्रविष्ट होने और बड़े-बड़े सन्त-महात्माओं, विद्वानों तथा राष्ट्र-नेताओंका आशीर्वाद पानेमें समर्थ हो सका है।

"श्रीकृष्ण-सन्देश" का उद्देश्य भगवान् श्रीकृष्णके धर्मोपदेशों द्वारा व्यक्ति, समाज और राष्ट्रमें नैतिक बल, पवित्राचरण तथा स्वधर्म-निष्ठा तो बढ़ाना है ही, उनके इतिहास-प्रसिद्ध पावन जन्म-स्थानको भी उनकी महिमाके अनुरूप विकसित करके उसे ऐसा रूप देना है, जिससे कि वह देश-विदेशके जिज्ञासुओंका प्रेरणा-केन्द्र बन जाय। किन्तु इस महान् उद्देश्यकी सम्पूर्ति तभी होगी, जब समस्त श्रीकृष्णप्रेमी "श्रीकृष्ण-सन्देश" को अपना लेनेकी कृपा करेंगे।

अतः हम कृपालु ग्राहकोंसे यह प्रार्थना करते हैं कि आप अपने इष्ट मित्रों और बन्धु-बान्धवोंको "श्रीकृष्ण-सन्देश" के ग्राहक बनानेका अनुग्रह करें। यदि प्रत्येक कृपालु ग्राहक दस-दस नये ग्राहक बना देनेका कष्ट उठावें तो "श्रीकृष्ण-सन्देश" की शक्ति दस गुनी बढ़ जायेगी।

आशा ही नहीं, विश्वास है कि आप सभी कृपालु ग्राहक हमारी प्रार्थना पर अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

प्रार्थी—
प्रबन्ध-सम्पादक
"श्रीकृष्ण-सन्देश"
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघ, मथुरा।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान-सेवासंघके लिए देवधरशर्मा द्वारा बम्बई भूषण प्रेस, मथुरामें मुद्रित तथा प्रकाशित : आवरण-मुद्रक—ब्रजवासी फाइन आर्ट ओफसैट वर्क्स, मथुरा।